

■
अस्यम' बनोम'
आत्मघात'

— श्रीराम शर्मा आचार्य

असंयमबनाम आत्मघात



लेखक :

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य



प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००



पुनरावृत्ति सन् २०१४

मूल्य : ९.०० रुपये

भूमिका

कुछ अपंग, अविकसित अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी मनुष्य एक जैसी स्थिति में उत्पन्न होते हैं। आरोग्य से लेकर जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में दृढ़ता एवं प्रगति की सफलताएँ तो मनुष्य की अपनी गतिविधियों पर निर्भर रहती हैं। अपना आरोग्य यदि पिछड़ा या बिगड़ा हुआ है तो उसके लिए परिस्थितियों को दोष देते रहने से काम नहीं चलेगा। अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ेगा, कहीं अपने से ही भूल होती है या होती रही है, अपने पैर कुल्हाड़ी मारने से ही यह जख्म हुआ है। ऐसा दूसरा कोई पास में दीखता नहीं जिसके कारण इतनी मजबूत इमारत खोखली होती। आँख बंद किए रहें तो बात दूसरी है अन्यथा पलक खोलकर देखने पर वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है और वह छिद्र स्पष्ट दीखता है, जिसमें होकर इस नाव में पानी भरा है और वह डूबने के करीब जा पहुँची है। अपनी ही बुरी आदतें हैं जिनसे घुन की तरह इस मजबूत शहतीर को खोखला करके रख दिया है। यदि अपनी भूलें स्वास्थ्य की बर्बादी का कारण समझ में आ सके और उनका पश्चात्ताप हो तो प्रायश्चित् एक ही है कि जो हो चुका है उसे सुधारने के लिए उतनी ही हिम्मत के साथ कदम बढ़ाए जाएँ जितने उत्साह से निराशा के पथ पर बढ़ने में उत्साह दिखाया गया है।

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा का निवास होता है, यह कथन अक्षरशः सत्य है। जिसका शरीर स्वस्थ होगा उसकी आत्मा भी स्वस्थ एवं समुन्नत होगी। स्वस्थ आत्मा के लिए शरीर का स्वस्थ होना आवश्यक है।

स्वस्थ आत्मा के लक्षण हैं साहस, शौर्य, वीरता, धीरता, स्थिरता, शांति, प्रसन्नता, प्रफुल्लता एवं असंकीर्णता आदि। दैवी, सात्विकी अथवा आध्यात्मिक गुणों का बाहुल्य। जिन व्यक्तियों में इन गुणों की अभिव्यक्ति पाई जाएगी, उनकी आत्मा को स्वस्थ ही कहना होगा इसके विपरीत जो कायर हैं, अधैर्यवान, भीरु, दीन-हीन एवं मलिन हैं वह स्वस्थ आत्मा वाला नहीं माना जा सकता। आत्मा को स्वस्थ बनाने अथवा स्वस्थ आत्मा पाने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है उसमें प्रथम स्थान स्वस्थ शरीर का ही है। शरीर के पूर्ण रूप से स्वस्थ होने से बाहर-भीतर चारों ओर सामर्थ्य ही सामर्थ्य दृष्टिगोचर हुआ करती है।

संसार के प्रत्येक क्षेत्र में स्वस्थ शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है। उपार्जन से लेकर भोजन तक और संघर्ष से लेकर मनोरंजन तक ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जिसमें अस्वस्थ शरीर व्यक्ति सफलता एवं सार्थकतापूर्वक जी सके। किसान से लेकर क्लर्क तक और उद्योगपति से लेकर श्रमिक तब यदि वह शरीर से स्वस्थ एवं समर्थ नहीं होगा तो अपना उपार्जन क्रम नहीं चला सकता। यदि रो-झींककर चलाता भी है तो उसका काम सुंदर एवं संतोषजनक नहीं हो सकता। अस्वस्थ शरीर व्यक्ति अधिक दिनों तक उपार्जन क्षेत्र में नहीं डट सकता। शीघ्र ही वह या तो रोगी होकर चारपाई पकड़ लेगा अथवा पूर्ण रूप से क्षीण होकर क्षय हो जाएगा। बहुत से अस्वस्थ व्यक्ति खाते कमाते देखे जाते हैं किंतु उनके खाने-कमाने में कोई आनंद नहीं होता वे मुर्दों की तरह जीते हैं।

यह भी संभव हो सकता है कि ऐसे अनेक अस्वस्थ व्यक्ति हों जिनके काम करने वाले नौकर-चाकर हों, पुत्र व पौत्र हों और उनको उपार्जन के लिए किसी प्रकार की चिंता न करनी पड़ती हो, तब भी ऐसे परावलंबी व्यक्ति जीवन का कोई सुख नहीं पा सकते। परावलंबी, पराश्रित अथवा परमुखापेक्षी व्यक्ति की आत्मा दीन-हीन तथा मलीन होकर मर जाती है। संतान वाला होकर भी अनाथ और धनवान होकर भी भिखारी जैसा बना रहता है, पर निर्भर को भी शारीरिक निर्भरता वाला व्यक्ति ऊपर से कितना ही अभिमान, मान, गुमान अथवा स्वाभिमान क्यों न दिखलाए किंतु वह सब उसका आडंबर मात्र ही होता है। उसका मन, उसकी आत्मा अंदर ही अंदर रोया सिसका करती है।

जीवन का आधार कहां जाने वाला भोजन अस्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति के लिए विष होता है। वह जो कुछ भी खाता है अजीर्ण बन जाता है, यों ही पेट के बाहर निकल जाता है अथवा अंदर ही अंदर रुककर सड़ा करता है। बहुत कुछ खाने-पीने पर भी जब असमर्थ शरीर व्यक्ति दो ग्रास रुचि कर भोजन करने के लिए तरसता है तब उसकी आत्मा की क्या दशा होती है इसे तो आसक्त-भोगी ही जान सकते हैं।

अन्य सुख तो दूर की चीज है, असमर्थ व्यक्ति निद्रा सुख से भी वंचित रहता है। अस्वस्थ व्यक्ति को अनेक चिंताएँ, पीड़ा तथा वेदनाएँ घेरे रहती हैं। इस कारण उसे रात में नींद नहीं आती। जब सारा संसार मौज से मीठी तथा गहरी नींद सोता है और असमर्थ व्यक्ति अनिद्रा का आखेट बना तारे गिनता रहता है तब उसकी आत्मा पर क्या बीतती है यह भी कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। भोजन, नींद, श्रम एवं स्वावलंबन के सुख से वंचित असमर्थ शरीर वाला व्यक्ति आध्यात्मिक क्षेत्र में कौन-से तारे तोड़ सकता है ? कितनी उन्नति कर सकता है ? कितना आगे बढ़ सकता है—इसका उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है।

आत्मोन्नति के इच्छुक अध्यात्मवादियों की सबसे प्रमुख एवं प्रथम साधना यह है कि वे अपने शरीर को पूर्ण रूप से स्वस्थ एवं

पुष्ट बनाएँ। जो असमर्थ व्यक्ति साधारणतम दैनिक श्रम नहीं कर सकता—अपने जीवन संकट को ठीक से नहीं खींच सकता, वह साधन समर में आवश्यक संयमों का निर्वाह कर सकेगा—काम, क्रोध, मोह, लोभ, ईर्ष्या, डाह आदिक शत्रुओं से डटकर मुकाबला कर सकेगा, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। साधन समर के लिए स्वस्थ एवं पुष्ट शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है जिसे पूरा किए बिना कोई व्यक्ति अध्यात्म पथ पर एक कदम भी नहीं बढ़ सकता “स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ आत्मा रहती है।” यह तथ्य किसी आध्यात्मिक जिज्ञासु को नहीं भूलना चाहिए।

निर्बल शरीर के व्यक्ति बहुधा चरित्रहीन भी हुआ करते हैं। उनकी शारीरिक निर्बलता ही इस बात का विज्ञापन है कि वह व्यक्ति पूरी तरह सदाचारी नहीं है। बहुत बार लोग किसी रोग के शिकार होकर क्षीणकाय हो जाते हैं किंतु वह रोग भी उसको किसी अनियमित आहार-विहार के दंड स्वरूप ही मिला होता है। आहार-विहार तथा आचार-विचार का असंयम स्वयं में ही एक असदाचार एवं चरित्रहीनता है। हीन चरित्र अथवा आचरण रहित व्यक्ति यदि उस आध्यात्मिक दिशा में बढ़ना चाहता है जिसमें अखंड आत्मबल एवं सदाचरण आवश्यक है तो वह दिन में स्वप्न देखता है, इस प्रकार के तेजस्वी चरित्र को क्षीण अथवा दीन-हीन शारीरिक अवस्था वाला नहीं पा सकता।

आवेग, आवेश, आक्रोश एवं आतुरता आध्यात्मिक पथ पर लगने वाले बड़े ही क्रूर डाकू हैं। यह डाकू बड़ी कठिनता से कमाई हुई मानसिक शांति अथवा स्थिरता को क्षण भर में ही लूटकर साधक को निर्धन एवं निर्बल बना देते हैं। यह दस्यु किस समय किस पर आक्रमण कर दें इसका कोई ठिकाना नहीं। दिश्वामित्र, ययाति, पाराशर तथा दुर्वासा आदि महान आध्यात्मिक साधक जब इनके शिकार बन सकते हैं, तब साधारण जन जो तिल-तिलकर उस पथ पर बढ़ पाते हैं इन क्रूर एवं असामयिक पथ-पिंडरियों से सुरक्षित रह सकते हैं; ऐसी आशा आत्म-प्रवचना ही मानी जाएगी।

असमर्थ एवं अस्वस्थ शरीर के व्यक्ति स्वभाव से ही आवेश प्रधान होते हैं। निर्बल का क्रोधी होना चिर प्रसिद्ध है। जरा-सी बात पर उत्तेजित हो उठना, तनिक-सी प्रतिकूलता देखकर आवेश में आ जाना, अणु मात्र अप्रियता से क्रोधग्रस्त हो जाना बिंदु भर विषमता से बड़ी सीमा तक चिंतित हो उठना निर्बल व्यक्तियों का विशेष अवगुण होता है। असमर्थ शरीर आलस्य प्रमाद तथा काम विकार का स्थायी निवास होता है। अस्वास्थ्य के कारण भली प्रकार न पचने वाले भोजन का रस-रक्त कामुक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने वाला ही होता है। इतने अधिक और विषैले कृमि-कीटों के लगे रहने पर किसी की आध्यात्मिक कृषि फलीभूत हो सकती है ऐसा विश्वास किसी प्रकार भी नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए जिस निर्मलता, निर्विकारिता एवं निर्भयता की आवश्यकता है वह शरीर को सबल स्वस्थ एवं समर्थ बनाकर ही पाई जा सकती है। दीन, हीन, क्षीण तथा निर्बल शरीरावस्था में नहीं।

“अभय” आध्यात्मिक उन्नति का महत्त्वपूर्ण आधार है। आधार यों भी कहा जा सकता है कि ‘अभय स्थिति’ प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधक का लक्ष्य है। जिसे शत्रु-भय, अस्वास्थ्य भय, अयश भय, विछोह भय आदि सताते रहते हैं वह एक प्रकार से जीते जी नरक में पड़ा रहता है। भय चिंताओं को जन्म देने वाला विष बीज है। जिसके हृदय में चिंता की ज्वाला जल रही है जिसकी वृद्धि विविध प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भयों से भ्रमित हो रही है, वह आध्यात्मिक पथ पर एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता। इन्हीं अवयवों पर विजय पाना भी आध्यात्मिक साधना का लक्ष्य है। भयों से मुक्त हो जाने पर मनुष्य की आत्मा एक अनिवर्चनीय सुख-शांति की अनुभूति पाती है एक ऐसी निःशंक शांति की अनुभूति जो ब्रह्मानंद के समक्ष होती है।

अभय का अभ्यास समर्थ शरीर द्वारा ही संभव है। शरीर में शक्ति एवं ओज-तेज रहने से मनुष्य का मनोबल भी बढ़ता है। उसे विश्वास रहता है कि वह किसी भी समय परिश्रम, पुरुषार्थ एवं सहनशक्ति के बल पर किसी भी प्रतिकूलता का मुकाबला

सफलतापूर्वक कर सकता है। किसी दुष्ट के आने पर उससे निबट सकता है। शत्रु के आने पर टक्कर ले सकता है, संकट आने पर स्थिर रह सकता है और आपत्ति में फँस जाने पर अपना संतुलन बनाये रह सकता है। उसे कभी भी यह शंका नहीं रहती कि संसार की कोई भी विषम परिस्थिति उसको विचलित कर उसका बाल-बॉका कर सकती है। शरीर सामर्थ्य भरे-पूरे शरीर वाले की हिम्मत, हौसला तथा साहस को बहुत बड़ा-चढ़ा देती है, शारीरिक सामर्थ्य के अभाव में मनोबल तथा आत्म-विश्वास की संभावना दूर की बात है। असमर्थ व्यक्ति जीवन में पल-पल पर त्रस्त व्यग्र आतुर तथा शंकाकुल ही रहा करते हैं, और यदि कभी वे किसी कारणवश कोई साहस भी कर बैठते हैं तो बहुधा उन्हें पराजय, अपमान अथवा असफलता का सामना करना पड़ता है जिनसे—उनकी आत्मा पर अंधकारपूर्ण प्रतिक्रिया होती है। ऐसी स्थिति में आत्मा की उन्नति तो दूर उल्टा पतन ही होता है।

आध्यात्मिक उन्नति के लिए साधनाओं एवं साधनों की आवश्यकता है। उसमें शरीर रूपी साधन को सक्षम एवं सुयोग्य बनाने के लिए स्वास्थ्य साधना की प्रमुख एवं प्रथम आवश्यकता है। शरीर को स्वस्थ, सबल एवं सक्षम बनाने के लिए सात्विक आहार, इंद्रिय संयम, मानसिक संतुलन व्यवस्थित दिनचर्या के अतिरिक्त उचित मात्रा में शारीरिक श्रम करना भी है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए व्यायाम आवश्यक है। श्रम करने को तो यों सभी लोग कुछ न कुछ शारीरिक श्रम करते रहते हैं। किसान तथा मजदूर तो केवल शारीरिक श्रम के आधार पर ही अपनी आजीविका कमाते हैं। एक मात्र शारीरिक श्रम को ही स्वास्थ्य का आधार मान लेना गलत है। किसी रूप में केवल शारीरिक श्रम करते रहने से ही व्यायाम की पूर्ति नहीं हो सकती। कार्यश्रम तथा व्यायामिक श्रम में जो भेद है वह यह है कि साधारण क्रियाशीलता के श्रम में स्वास्थ्य संवर्धन की भावना नहीं रहती जबकि व्यायामिक श्रम में मात्र इसी भावना का समावेश रहता है। स्वास्थ्य संवर्धन की भावना से रहित श्रम से वांछित

स्वास्थ्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। व्यायाम केवल शारीरिक श्रम नहीं वरन् शारीरिक श्रम व मानसिक भावना के संमिश्रण का नाम है। शारीरिक श्रम तथा मन दोनों के संमिश्रण पर जो नियमित एवं विधिपूर्वक किया जाता है उसे ही व्यायाम की संज्ञा दी जाती है और वही परिश्रम मनुष्य को स्फूर्ति, प्रेरणा, शक्ति, सामर्थ्य, साहस, उत्साह, मनोबल तथा आत्मविश्वास प्रदान कर सकता है जिसके आधार पर अध्यात्म मार्ग के सहायक गुण, अभय एवं उल्लास को प्राप्त किया जा सकता है।

अनेक लोग बढ़िया पौष्टिक भोजन की प्रचुरता को स्वास्थ्य एवं शारीरिक बल का आधार मानते हैं। ऐसा विश्वास रखने वाले भी इस दिशा में अंधेरे में ही भटकते कहे जाएँगे। दूध, घी, मक्खन, मलाई, मेवा, फलों को अधिक से अधिक खाते रहने से ही कोई स्वस्थ एवं सबल नहीं हो सकता स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण यह नहीं है कि हम क्या और कितना खाते हैं ? स्वास्थ्य के लिए महत्वपूर्ण यह है कि हम क्या खाते हैं और कितना पचाते हैं ? बात यह है कि गरिष्ठ, सात्विक तथा अवांछनीय भोजन अस्वास्थ्यकर होता है किंतु वह सात्विक भोजन भी तामसी अवगुण में बदल जाता है जो पूरी तरह से पचाया नहीं जाता।

भोजन को पूरी तरह पचाया और उसका शक्ति तत्त्व आत्मसात् करने के लिए व्यायाम के रूप में शारीरिक श्रम करना बहुत आवश्यक है। व्यायाम के अभाव में बढ़िया से बढ़िया पौष्टिक एवं स्वास्थ्यदायक भोजन भी अपच बनकर शरीर को हानि पहुँचाएगा जबकि व्यायाम श्रम द्वारा ही पूरी तरह पचाया हुआ ज्वार जैसा साधारण अन्न तक उन सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर देगा, जिनकी शारीरिक स्वास्थ्य एवं सामर्थ्य के लिए अपेक्षा है।

इससे उसकी शारीरिक शक्ति बढ़ेगी, मनोबल तथा आत्मविश्वास की उपलब्धि होगी। आध्यात्मिक मार्ग के संयमों, नियमों तथा कठिनाइयों को सहन करने की क्षमता प्राप्त होगी, अभय की सिद्धि होगी जो कि भय से मुक्त करने में सहायक होगी।

धर्म साधन में शरीर रक्षा का महत्त्व

दो बातें संसार में पूर्णतया सत्य हैं कि—(१) हमें संसार में पृथ्वी पर रहना है और (२) कभी न कभी पृथ्वी को छोड़ना है—ये दोनों प्रत्यक्ष और स्वाभाविक बातें हैं और साथ ही यह भी स्वाभाविक है कि प्रत्येक व्यक्ति की यह इच्छा होती है कि पृथ्वी पर हमारा रहना सुखपूर्ण हो पृथ्वी का त्याग (मृत्यु) भी दुःख रहित हो। जिन साधनों से ये दोनों ध्येय प्राप्त हों उन्हीं को धर्म कहना चाहिए।

पृथ्वी पर रहकर काम करने के लिए हमारा औजार भौतिक (स्थूल) शरीर है, यह समझना भूल है कि हम स्वयं शरीर हैं। नहीं हम आत्मा हैं और हमारा शरीर स्वयं औजार है। हमारे शास्त्रों में भी लिखा है और आधुनिक अनुसंधानों से भी पता चलता है कि भौतिक शरीर के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा सूक्ष्म शरीर में स्थित रहती है और कभी-कभी उसका भूलोक के मनुष्यों से संपर्क भी हो जाता है, इसलिए हमारा स्थायी और असली भाग अभौतिक आत्मा ही है और भौतिक शरीर बाहरी वस्त्रों की भाँति आत्मा से चिपके हुए एक वस्त्र के समान है जिसका नाश होने पर भी आत्मा का अस्तित्व बना रहता है।

जिस तरह यदि हम एक घोड़े पर सवार हों तो उस घोड़े की शक्ति तेजी और स्वभाव का हमारे कार्यक्रम पर भी अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार हमारे शरीर का स्वास्थ्य दक्षता और सत्स्वभाव (अच्छी आदतें) पृथ्वी पर हमारी सफलता के आधार होते हैं, क्योंकि हमारा शरीर ही हमारी आत्मा का मुख्य औजार है। इसी तत्त्व को दृष्टिगोचर रखकर शास्त्रकारों ने कहा है—‘शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्’ अर्थात् शरीर निश्चय ही धर्म का प्रथम साधन है। इसी बात को अन्य स्थान पर विस्तारपूर्वक समझाया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।

बुद्धितु सारथिं विद्धि, मनः प्रगहमेवच॥

इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयान् तेषु गोचरानू।

आत्मेन्द्रिय मनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

अर्थात्—यह आत्मा शरीर रूपी रथ पर सवार है। बुद्धि सारथी है, मन लगाम है। इंद्रियाँ घोड़े हैं, जगत के विषय कार्यक्षेत्र हैं। इंद्रिय और मन सहित आत्मा भोक्ता है, ध्यान रखिये कि भोक्ता आत्मा है शरीर नहीं। मन, इंद्रिय और शरीर सब आत्मा के सहायक हैं—सारथी हैं, पर ये स्वयं आत्मा नहीं कहे जा सकते। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि शरीर का कोई महत्त्व नहीं। अगर डॉक्टर का नश्वर साफ और तेज न होगा तो वह अच्छा आपरेशन (चीर-फाड़) न कर सकेगा। इसी प्रकार जिस व्यक्ति का शरीर रोगी या निर्बल होगा वह संसार के बहुत काम का नहीं हो सकता, उसका मूल्य थोड़ा ही समझा जाएगा।

इसलिए शरीर उपेक्षा की वस्तु नहीं है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना हमारा प्रथम कर्तव्य है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए हम शरीर के वशीभूत हो जाएँ। सेवक के रूप में शरीर हमारे लिए उपयोगी है, पर उसको स्वामी बना देने का परिणाम बड़ा दुःखजनक होता है। इसलिए शरीर की यथायोग्य रक्षा करने के लिए भोजन-वस्तु-घर-आदि की उचित व्यवस्था पर ध्यान देना चाहिए और साथ ही उसे सद्मार्ग पर चलाने के लिए नीति के नियमों का भी ध्यान रखना आवश्यक है। नीचे हम इन तीनों विषयों पर अलग-अलग विचार करते हैं—

भोजन में जिन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है, वे हैं—पौष्टिकता, स्वच्छता और ईमानदारी। भोजन की पौष्टिकता का विषय बड़ा लंबा है और इस पर अनेक पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। हमारे भोजन में एसिड (अम्ल) एलकलाइन (खार) कार्बोहाईड्रेट प्रोटीन फैट (चिकनाई) आदि कई तत्त्व माने गये हैं। इनके अतिरिक्त आजकल भोजन में विटामिन होने पर भी जोर दिया जाता है, जिन खाद्य पदार्थों से उपयुक्त तत्त्व संतुलित रूप में प्राप्त हो सकें वही स्वास्थ्य का रक्षक और स्वास्थ्य बढ़ाने वाला है।

भोजन स्वच्छ होना भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है—इसके संबंध में भारतवर्ष में काफी विचार किया गया है। इसमें विचार निरामिष—वानस्पतिक और सामिश्र—पशुओं से प्राप्त का है। भारतवर्ष के बाहर इस विषय पर कुछ विचार नहीं किया जाता, पर हमारे

शास्त्रकारों ने स्पष्ट कह दिया है कि मनुष्य के लिए निरामिष आहार ही शरीर और आत्मा के विकास की दृष्टि से हितकारी है। मांस खाना न तो मानव शरीर के लिए स्वास्थ्यप्रद कहा जा सकता है और न उसके व्यवहार से हमारी मनोवृत्तियाँ शांत और कल्याणकारी स्थिति में रह सकती हैं।

हमारे वस्त्रों का उपयोग तो ऋतु की विकृति से शरीर की रक्षा करने में है, पर आजकल वस्त्रों को दो अन्य दृष्टियों से भी व्यवहार में लाया जाता है—(१) सौंदर्य की वृद्धि और (२) समाज में सम्मान प्राप्त करने का साधन। ये विचार मर्यादित मात्रा में दूषित नहीं हैं, पर इनमें अति करना निःसंदेह हानिकारक है।

रहने के मकानों की आजकल हर जगह कमी है, इसके दो कारण जान पड़ते हैं—(१) जनसंख्या की वृद्धि और (२) युद्ध में मकानों का नाश। इसलिए सबको अपनी पसंद के मकान मिल सकना कठिन है, फिर भी मकान यथासंभव खुला हुआ तो होना ही चाहिए, जिसमें धूप और हवा पर्याप्त मात्रा में मिल सके। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि पड़ोसी की गली और आसपास के स्थानों को गंदा न करें, न अन्य किसी को हानि पहुँचायें। जो लोग किराये के मकान में रहते हैं उनको दूसरों के मकान की भी उतनी ही देखभाल करनी चाहिए जितनी कि हम अपने मकानों की करते हैं।

तीसरी बात—ईमानदारी से धन प्राप्त करने की। इसकी आवश्यकता जीवन निर्वाह की सभी बातों में है। यह भी धर्म का सर्वप्रथम और परमावश्यक लक्षण है। समस्त वस्तुओं की प्राप्ति का साधन धन है, जिसके लिए वैज्ञानिक शब्द अर्थ है, अर्थ की प्राप्ति और उनका व्यय एक बड़ा विषय है। अर्थ की प्राप्ति के संबंध में आचार्य बिनोवा भावे ने लिखा है कि कर्मयोगी का जीविका अर्जन कार्य समाज उपकारक होगा। बौद्ध धर्म में 'सम्यक् आजीवन' को धर्म के आठ अंगों में गिना गया है, जिसका आशय यही है कि आजीविका उचित और धर्मयुक्त मार्ग से प्राप्त की जाए। इस संबंध में हमको यह समझना चाहिए कि संसार में सब वस्तुएँ समाज की हैं, हमारी ईमानदारी इसी में है कि जितने मूल्य की समाज की सेवा

करें उतने ही मूल्य की वस्तुओं का उपभोग करें। यदि हम अधिक मूल्य की वस्तुओं का उपभोग करते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम समाज के ऋणी हो गये और समय आने पर हमें समाज के इस ऋण को चुकाना होगा।

इस सिद्धांत पर कार्य करने से समाज में शांति बनी रह सकती है। जिस प्रकार बैंक में रुपया जमा किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर उसे निकाला जा सकता है, पर यदि हम अपने लिए जमा किए हुए की अपेक्षा अधिक धन निकालें तो वह बाद में लौटाना पड़ता है और उसका ब्याज भी देना पड़ता है। बैंक में जो रुपया होता है वह किसी एक व्यक्ति का तो होता नहीं। यदि उसमें से ज्यादा रुपया निकाल लें और वापिस न करें तो जिनका वह रुपया होगा उनसे झगड़ा होगा और व्यक्तिगत तथा समाजगत संग्राम छिड़ जाएगा। दूसरों के परिश्रम से अर्जित वस्तु या अर्थ के उपभोग की लिप्सा के ही कारण गत पचास वर्षों में दो बार महाभयंकर युद्ध हो चुके हैं। अपनी योग्यता और श्रम से उपार्जित जो संपत्ति है, चाहे वह थोड़ी ही हो उसी तक अपना व्यय सीमित रखना संसार में सुख और सार्वजनिक सुख का मुख्य साधन है।

इस दृष्टि से धर्म—साधन के लिए शरीर की रक्षा की ओर ध्यान देना और उसे कार्यक्रम बनाए रखना परमावश्यक है। रोगी और निर्बल मनुष्य से धर्म—साधन प्रायः असंभव होता है और वह स्वयं ही दूसरों के आश्रित रहता है, पर शरीर रक्षा के साधनों को प्राप्त करने में सर्वप्रथम सचाई ईमानदारी का ध्यान अनिवार्य है, क्योंकि यदि इन बातों का ध्यान न रखा जाएगा तो समाज में शांति का स्थिर रहना कठिन होगा और उससे सभी व्यक्तियों को हानि सहन करनी पड़ेगी, इसलिए मनुष्य का हित इसी में है कि वह अन्य व्यक्तियों के हित की रक्षा करते हुए अपना भी हित—साधन करे।

स्वाध्याय की उपेक्षा न करें

मनुष्य सांसारिक कर्तव्य को पूर्ण लगन व तत्परता के साथ निभाता रहे, इसके लिए निरोग जीवन जीने का सर्वाधिक महत्त्व है। सामान्य जीवन के हर छोटे-बड़े कार्य स्वस्थ रहे वगैर पूरे नहीं किए

जा सकते। महान कार्यों को पूरा करने के लिए उसकी उपयोगिता और भी कई गुना बढ़ जाती है, इसी से स्वास्थ्य को धार्मिक सदाचार की संज्ञा दी जाती है। वस्तुतः यह सच बात है कि व्यक्ति में नैतिक सद्गुणों का विकास स्वस्थ व निरोग रहने से प्रारंभ होता है। इसी के सहारे धर्म की रक्षा और असत् तत्त्वों से बचाव रखा जा सकता है। शास्त्रकार ने लिखा है—

शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।

अर्थात्—धर्म का कर्तव्य पालन का प्रमुख साधन है—उत्तम स्वास्थ्य, अप्राकृतिक कर्मों द्वारा स्वास्थ्य को गिरा देना, रोगी होना महान पाप है।

आध्यात्मिक जीवन बिताते हुए मनुष्य उससे महान् परिणामों की आशा रखता है, इसके लिए स्वास्थ्य सर्वप्रथम है। शरीर का अर्थ है साध्य तक पहुँचाने का साधन अथवा इस प्रकार कहना चाहिए कि यह वह उपकार है जिसके द्वारा महान् आध्यात्मिक परिणाम प्राप्त किए जाते हैं। साधनहीन, अस्त-व्यस्त व डौंवाडोल रहे, उपकरण यदि जीर्ण-शीर्ण हों तो सिद्ध प्राप्ति की कामना कभी भी साकार न होगी। लक्ष्य चाहे आध्यात्मिक हो अथवा लौकिक, उसकी प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम स्वस्थ व निरोग जीवन की उपासना करनी पड़ती है। इसकी उपेक्षा करने वालों को तो अभीष्ट प्राप्ति से वंचित ही रहना पड़ता है। रोगी व शारीरिक दृष्टि से दुर्बल व्यक्ति सीधा शार्ट-कट मार्ग ढूँढ़कर किसी प्रकार की सफलता प्राप्त करना चाहे तो उन्हें निराश ही होना पड़ेगा, सफलता का राजमार्ग अच्छे स्वास्थ्य से प्रारंभ होता है।

आध्यात्मिक विद्या के आचार्य जब किसी को पारमाथिक उद्देश्य की पूर्ति अथवा जीवन लक्ष्य की प्राप्ति की प्रेरणा देते हैं तो उन्हें जप-तप, ध्यान-धारणा आदि की उच्च प्रक्रियाएँ बाद में बताते हैं, पहले तो उनका प्रशिक्षण स्वास्थ्य कायम रखने, निरोग जीवन बिताने पर होता है। पीछे दूसरे उपाय भी बताते हैं। नींव मजबूत किये बिना अगला कदम सफल नहीं हो सकता। कई लोग यह समझते हैं कि शरीर चाहे जिस स्थिति में पड़ा रहे जप-तप मात्र से ही अभीष्ट

प्राप्ति संभव है किंतु ऐसा नहीं हो पाता। कोई ड्राइवर कहे कि उसकी गाड़ी टूटी-फूटी है तो क्या हुआ इंजन, गेयर, ब्रेक आदि अच्छे नहीं तो इसमें क्या हर्ज—तो समझदार यात्री उसकी बात पर विश्वास नहीं कर सकते। इसी प्रकार टूटे-फूटे, जीर्ण-शीर्ण एवं रुग्ण शरीर को लेकर कोई व्यक्ति जीवन लक्ष्य प्राप्त कर सकेगा उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

मनुष्य की जिंदगी भी ऐसी ही एक यात्रा है, इसे शरीर की मोटर पर सवार होकर पूरा किया जाता है। मंजिल की ओर से चलने वाला वाहन यह शरीर ही है, इसे यँ ही उपेक्षित रखा गया रोग, शोक और दुर्बलता के यातनालय में पड़ा सिसकता रहने दिया गया तो लक्ष्य प्राप्ति की प्रक्रिया भला कैसे पूरी हो सकेगी। पूजा-पाठ करें सो ठीक है, सदाचार पर चलते हुए जीवन को समुन्नत बनाते चलें यह सराहनीय है। उचित रीति से धनार्जन करता हुआ अपने परिवार का उचित ढंग से पालन-पोषण करें, यह सभी अध्यात्म के महत्त्वपूर्ण अंग है किंतु इन सबसे अधिक और सर्वप्रथम ध्यान देने योग्य यदि कोई वस्तु है तो वह है उत्तम स्वास्थ्य और नीरोग जीवन। स्वास्थ्य सफलता का मूलाधार माना गया है। शरीर रुग्ण हो तो चित्त कभी स्थिर न रहेगा, शारीरिक अशक्तता से मन खिन्न रहेगा। रोग-शोक और पीड़ाओं में फिर वह एकाग्रता कहाँ बन पड़ेगी, जिसकी अपेक्षा की गई थी। ऐसे व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन का क्या आनंद पा सकेंगे ? शारीरिक रुग्णता और निर्जीव इच्छा शक्ति दोनों सगी बहिर्ने हैं। क्षीणकाय व्यक्ति कामनाएँ कितनी ही कर लें पर कुछ सफलता पा जाएगा इसमें सदैव संदेह ही रहता है। श्रमिक अपने श्रम से उद्योगों को चलाता और उत्पादन को बढ़ाता है। लोकसेवी निरंतर श्रम करके मानसिक सत्प्रवृत्तियों को बढ़ाता है। सैनिक शत्रु से घोर संघर्ष करते हुए अपने देश का सम्मान कायम रखता है। किसान सर्दी-गर्मी की परवाह न कर दिन-रात खेतों में लगा रहता है और उत्तम फसलें उगाकर अपना तथा सैकड़ों दूसरे लोगों का पेट पालन करता है। यह सभी कार्य उत्तम स्वास्थ्य के माध्यम से ही पूरे किए जाते हैं, श्रम का जन्मदाता स्वास्थ्य ही है।

महान मनीषी पी. साइरस ने लिखा है—'अच्छा स्वास्थ्य एवं अच्छी समझ जीवन के दो सर्वोत्तम वरदान हैं।' स्वास्थ्य का अच्छी समझ से बड़ा सीधा-सा संबंध है। एक अंग्रेजी कहावत है—स्वस्थ दिमाग स्वस्थ शरीर में होता है। जिसकी शारीरिक स्थिति ही अच्छी न होगी उसका मस्तिष्क उसके विचार व समझ कदापि परिपक्व न होंगे। व्यक्तित्व की परख स्वास्थ्य के अच्छे अथवा खराब होने से ही की जाती है। सदाचार-नैतिक जीवन जीने वाले व्यक्ति स्वस्थ, बलिष्ठ व नीरोग होते हैं, उनके चेहरे पर दैवी मुस्कान खिली रहती है। ऐसे व्यक्तियों में कुछ ऐसा आकर्षण होता है कि हर कोई उनसे बात करके मित्रता बढ़ाने और सदैव मिलते-जुलते रहने के लिए लालायित रहता, उनसे अलग होने का जी नहीं करता। स्वस्थ व्यक्ति में प्राणशक्ति होती है, इसी से लोग उसकी ओर आकर्षित बने रहते हैं।

दूसरे व्यक्ति वे होते हैं जो अपने मित्रों के पास पहुँचते ही अपने दुःख दुर्भाग्य का रोना शुरू कर देते हैं। ये दुर्बल व्यक्ति खाज-खुजली, सर्दी-जुकाम के नुस्खे ही तलाश करते रहते हैं, इनके पास न तो कोई बैठने की इच्छा करता है, नहीं इनसे मिलकर किसी को प्रसन्नता मिलती है। संसार में सभी के पास अपनी निज की समस्याएँ ही इतनी अधिक होती हैं कि औरों की सुनने की उसकी इच्छा ही नहीं होती है। दूसरों से मिलने, प्रसन्नता प्राप्त करने का ही भाव अधिक रहता है, जो बेचारा स्वयं खीझा हुआ, अप्रसन्न, अस्वस्थ एवं चिंतित रहता है वह औरों को क्या तो प्रसन्नता देगा ? क्या किसी को अपनी ओर आकर्षित कर सकेगा ? कहते हैं लोग निर्धन व्यक्ति का कभी साथ नहीं देते। किन्हीं परिस्थितियों में संभव है अधिक आत्मीय व्यक्ति, सच्चे मित्र धनाभाव में भी संबंधों का निर्वाह करते दिखाई दे जाते हों किंतु दुर्बल व्यक्ति रुग्ण पुरुष से तो सभी आँखें छिपाते और कतराते रहते हैं, उनसे कुछ लाभ उठाने की बात तो कभी सोच भी नहीं सकते। वे वास्तव में कभी किसी का उपकार नहीं कर सकते, ऐसे व्यक्ति समाज व राष्ट्र के अभिशाप ही माने जाते हैं।

रुग्ण व्यक्ति खुद तो परेशान, चिन्तित एवं निराश रहता ही है, अपने परिवार वालों, समीपवर्ती लोगों को भी हर घड़ी परेशानियों में फँसाये रखता है। किसी शायर ने लिखा है—

तंगदस्ती अगर न हो गालिब,

तंदुरुस्ती हजार नियामत ॥

दैनिक परेशानियों से छुटकारा पाने का एक ही उपाय है—तंदुरुस्ती अच्छा स्वास्थ्य। यह बात सिर्फ वैयक्तिक हित के लिए नहीं है वरन् इससे सभी को लाभ मिलता है। जीवन के विभिन्न व्यवसायों में अनेकों लोगों के साथ हमारा संबंध बना रहता है। बेटे की स्वास्थ्य खराबी अकेले उसी को तकलीफ दे सो बात नहीं, उसके इलाज के लिए माँ चिन्तित होगी ही। अपने व्यवसाय को छोड़कर चिकित्सा के लिए बाप को जाना ही पड़ेगा, पास-पड़ोस वाले भी इस कार्य में हाथ बँटाते हैं। धन का अपव्यय होता है सो अलग, समय की बर्बादी होती है वह एक तरफ, जितना श्रम व धन किसी उपयोगी कार्य में लग सकता था वह एक व्यक्ति ही ले बैठा। धर्म कर्तव्य समझकर लोग रोगी की सेवा-सहायता करते हैं, पर साथ ही यह भी अनुभव करते हैं कि उसके कारण उन्हें कितनी हानि उठानी पड़ी, फिर रोगी के प्रति धीरे-धीरे समीपवर्ती लोगों में घृणा और उपेक्षा की भावना पनपने लगती है, इसलिए स्वास्थ्य को बनाये रखने और उस हेतु आवश्यक संयम को जीवन में सदैव स्थान दिये रहने में भूल नहीं करनी चाहिए।

स्वास्थ्य को असंयम की वेदी पर बर्बाद करना आत्मघात है और राष्ट्र की भी सबसे बड़ी संपत्ति का नाश करना है, इसलिए स्वास्थ्य की उपेक्षा न करें।



आरोग्य का मूल्य-महत्त्व समझें

जीवन-क्रम को सुव्यवस्थित रीति से चलाने के लिए आवश्यक साधनों में आरोग्य का स्थान सर्वप्रथम है। सुख, शांति और प्रगति के साधनों को जुटाने के लिए स्वस्थ शरीर ही समर्थ हो सकता है। जब शरीर की शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं बुढ़ापा आ घेरता है अथवा रोगों के चंगुल में जकड़ जाता है तो मनुष्य की स्थिति दीन-हीन एवं आर्त कातर जैसी हो जाती है। युवावस्था में जो लोग सिंह की तरह गरजते और हिरन की तरह उछलते रहते हैं उन्हें वृद्धावस्था में शक्तियों के क्षीण हो जाने पर असहाय एवं लुंज-पुंज असमर्थ प्राणी की तरह छोटी-छोटी बातों के लिए दूसरों की सहायता के लिए तरसते देखा है। यों वृद्धावस्था शांति की अवस्था है। यदि युवावस्था में व्यक्तियों का दुरुपयोग करके शरीर के जीवन तत्त्व को क्षत-विक्षत न कर लिया गया हो तो साधारण वृद्धावस्था में भी काम चलाऊ शक्ति बनी रहती है। अगणित व्यक्ति ऐसे हैं जो वृद्ध कहे जा सकने की आयु के होते हुए भी तरुणों जैसी सक्षमता बनाए रखते हैं। इसके विपरीत ५० वर्ष की आयु के ऐसे व्यक्ति भी बहुत बड़ी संख्या में देखे जा सकते हैं जिनके लिए जिंदगी भार हो रही है। शक्ति का भंडार चुक जाने पर खोखला बना हुआ शरीर किसी भी आयु का क्यों न हो असहाय स्थिति को पहुँच जाता है और जीवित रहते हुए भी मृतक से अधिक दुःख पाता है।

बीमारियों ने जिन्हें घेर लिया है उनके कष्टों का तो कहना ही क्या है। प्रत्येक रोग अपने साथ एक जलन, अशांति एवं पीड़ा लिए हुए होता है। रोगों की भिन्नता के कारण यह कष्ट न्यूनाधिक हो सकता है पर अशांति हर रोगी को रहती है। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनके शरीर में रहते हुए भी मनुष्य किसी प्रकार अपना दैनिक कार्यक्रम चलाता रहता है और कुछ ऐसे होते हैं जिनकी तीव्र व्यथा के कारण चारपाई पकड़नी पड़ती है। आम-तौर से रोगी उन्हें ही माना जाता है जो काम करने में असमर्थ होकर चारपाई पर गिर

पड़ें, दर्द से कराहें, दूसरों की सहायता की अपेक्षा करें और जिनकी सहायता के लिए डॉक्टर बुलाना पड़े। अब अस्वस्थता इतनी व्यापक होती चली जा रही है कि जो लोग किसी प्रकार अपनी देह को घसीटते ले चलते हैं, कष्ट को बाहर प्रकट न करके भीतर ही भीतर सहते रहते हैं उन्हें मोटे तौर से रोगी भी नहीं माना जाता। कुछ न कुछ व्यथा बनी रहना तो आज एक फैशन जैसा आम रिवाज हो गया है। कुल्ला, दातौन की तरह दवाओं का सेवन भी एक दैनिक आवश्यकता बनती जा रही है।

रोग मंद हो या तीव्र शरीर की शक्तियों का उत्पादन रोकता है और संग्रहीत बल को दिन-दिन नष्ट करता चलता है। मंद रोगों में यह विनाश प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती है और मनुष्य अकाल मृत्यु की ओर धीरे-धीरे घिसटता चलता है। तीव्र रोगों में यह कार्य आँधी तूफान की तरह होता है और यदि समुचित रोकथाम न हुई तो असह्य पीड़ा को सहता हुआ रोगी तेजी से दौड़ता हुआ काल के मुख में प्रवेश कर जाता है। जो लोग बीमारियों से ग्रसित हैं उनको जीवन धारण किये रहना ही एक समस्या है, जिंदगी के दिन किसी प्रकार काट लें, तो यही उनके लिए एक बड़ा पुरुषार्थ है। अन्यथा एक-एक दिन पीड़ा और परेशानी के कारण पहाड़ की तरह मालूम पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में फँसे हुए मनुष्य उन्नति और प्रगति की कल्पनाएँ ही कर सकते हैं, उनके लिए उन्हें वह अवसर कहाँ मिल पाता है जो स्वस्थ और पुष्ट शरीर वालों के लिए संभव होता है।

रोग मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है, वह भीतर ही भीतर जीवन तत्त्व को चूसता रहता है और उसे ऐसा खोखला एवं निकम्मा बना देता है कि किसी दिशा में पुरुषार्थ करने की क्षमता शेष नहीं रहती। प्रगति पथ में बाधा पहुँचाने वाली संसार में अनेक कठिनाइयाँ हैं, गरीबी, अविद्या, शत्रुता, शोषण, अविवेक, अनुपयुक्त शासन, अविवेकी समाज, दैवी प्रकोप आदि बहुत से कारण ऐसे हैं जो मनुष्य की उचित प्रगति को रोकते हैं। आलस्य, असम्यता, उत्तेजना, निराशा, मूर्खता आदि कई व्यक्तिगत दोष भी ऐसे हैं जो जीवन को ऊपर उठने नहीं देते और बार-बार नीचे दबोचते रहते हैं। पर इन सबसे

बढ़कर मनुष्य का शत्रु रोग है। बीमार आदमी यदि सदगुणी भी हो और सांसारिक परिस्थितियाँ प्रतिकूल न भी हों तो भी वह हीन स्थिति में ही पड़ा रहेगा। प्रगति के लिए जिस पुरुषार्थ की आवश्यकता है वह तभी बन पड़ता है जब शरीर निरोग हो। बीमार का सारा ध्यान अपनी व्यथा पर केंद्रित रहता है। दिन काटने की आवश्यक बातें तो उसे विवश होकर पूरी करनी ही पड़ती हैं पर उन मजबूरियों से ऊपर उठकर मनःक्षेत्र में कुछ ऐसा उत्साह शेष नहीं रहता जिसके आधार पर उन्नति की किसी बड़ी योजना को पूरा किया जा सके।

रोग के साथ-साथ क्षरण और कष्ट की प्रक्रिया निरंतर बढ़ती रहती है। देह में जो कुछ जमा पूँजी है, बीमारी उसे दिन-दिन घटाती और बर्बाद करती जाती है। कष्ट में कराहता हुआ बेचैनी और अशांति अनुभव करता हुआ मनुष्य क्या तो प्रगति की बात सोचेगा और क्या उस मार्ग पर दूर तक चल सकेगा ? महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति आगे तो बढ़ना चाहते हैं उनकी कामनाएँ तो बड़ी-बड़ी होती हैं पर शरीर साथ नहीं देता। ऐसी दशा में वे शक्ति से बाहर खींच-तान करके शरीर पर कुछ देर अत्याचार भी करते रहते हैं पर इतने से भी क्या काम बनने वाला है। पूरे पुरुषार्थ की शरीर में क्षमता नहीं होती, स्वल्प प्रयत्न से वह महत्त्वाकांक्षा पूरी नहीं होती ऐसी दशा में निराशा, दुर्भाग्य, क्षोभ आदि के खीज भरे विचार और उठने लगते हैं जिससे एक विशेष प्रकार का मानसिक कष्ट और बढ़ जाता है।

आजीविका उपार्जन के लिए अच्छे अवसर प्राप्त कर सकना स्वस्थ मनुष्य के लिए ही संभव है। क्या व्यापार, क्या नौकरी, दोनों ही कार्य शरीर बल की अपेक्षा रखते हैं। विद्या और बुद्धिबल बढ़ाने के लिए जिस शिक्षण और अध्यवसाय की जरूरत है वह भी निरोग रहने पर ही बन पड़ता है। समाज सेवा, परमार्थ, साधना, भजन, ध्यान, धर्म-कर्म जैसे पुण्य कर्मों के लिए जिस मनोबल की आवश्यकता है वह अस्वस्थ रहने वालों में कहाँ होता है। थोड़ी खींच तान कर गाड़ी आगे चलाते हैं, पर दूर तक वह भी नहीं चल पाती। यश-कीर्ति की कामना करने वालों को जो त्याग करना पड़ता है,

उसके लायक अस्वस्थ व्यक्ति में न तो साहस होता है और न साधन ही जुटा पाता है। मौज मजा करने की कामना भी ऐसे लोग कहीं पूरी कर पाते हैं। विनोद और मनोरंजन के लिए अवकाश की भी जरूरत पड़ती है और मनःस्थिति की भी यह दोनों ही बातें अस्वस्थता की स्थिति में नहीं बन पड़ती। इंद्रियों की शक्ति घट जाने से कोई भी रोग भोगते हुए दूनी पीड़ा बढ़ जाने की आशंका सामने खड़ी रहती है। इस प्रकार आशा और आनंद के सभी द्वार रोगी व्यक्ति के लिए अवरुद्ध बने रहते हैं।

संसार में कोई महत्त्वपूर्ण काम करने की, उन्नति एवं सफलता की, आनंद-उल्लास की, संतोष और शांति प्राप्त करने की आकांक्षा हर व्यक्ति को रहती है। पर कितने लोग हैं जो अपना अभीष्ट मनोरथ पूरा कर पाते हैं ? इन मन मसोस कर असफल रहने वाले व्यक्तियों में से अधिकांश वे होते हैं जिन्हें अस्वस्थता घेरे रहती है। उनके लिए न तो अपने लिए प्रसन्नता प्राप्त करना संभव होता है और न अपने परिवार की कोई महत्त्वपूर्ण सेवा बन पड़ती है। रोगी की सेवा में घर के लोगों को समय लगाना पड़ता है। यह परिचर्या किन्हीं बिरले ही मनस्वी व्यक्तियों को रुचती है अन्यथा सब लोग हैंसते-खेलते वातावरण में ही रहना पसंद करते हैं और दुःखी बीमारों की मनोव्यथा के संपर्क में आकर अपने को उदास बनाने से बचना चाहते हैं। कुछ समय तो भले ही उत्साहपूर्वक रोगी की सेवा बन पड़े और देर तक उसमें लगना पड़े तो घृणा और खिन्नता उत्पन्न होती है। रोगी की परिचर्या करने वाले लोग बाहर से ही शिष्टाचार बरतें, पर भीतर ही भीतर घृणा और खिन्नता के भाव भरे रहते हैं। इस प्रकार की मनो-भावनाओं के बीच रोगी अपने दिन काट सकता है, पर शांति एवं प्रसन्नता अनुभव नहीं कर सकता। छूत का भय, घर और बस्ती में बढ़ने वाली गंदगी, परिचर्या में लगने वाला समय कष्टमय वातावरण की मनहूसियत, दवादारु का खर्च, उपार्जन में कमी आदि का चिड़िचिड़ापन आदि कितनी ही बातें ऐसी उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे रोगी व्यक्ति से उसके घर वाले भी खिन्न रहते हैं और उनके संपर्क में आने से कतराने एवं पीछा छुड़ाने की भावनाएँ

व्यक्त करने लगते हैं। ऐसी परिस्थितियों से घिरा हुआ रोगी जो अपने आपके लिए ही भार रूप है, क्या अपने परिवार की सेवा करेगा ? और क्या उन्हें सुखी रखेगा।

रोग को आज जिस प्रकार एक फैशन मान लिया गया है और उसकी हानियों को गंभीरता से न सोचने का जो स्वभाव बनता जा रहा है वह बीमारी से भी अधिक भयंकर है। किसी चीज को हटाने या मिटाने का प्रयत्न मनुष्य तभी करता है जब उसकी भयंकरता और हानियों को भली प्रकार समझे। बीमारी और कमजोरी मानव जीवन की सबसे बड़ी क्षति है। लोग धन की हानि को प्रधानता देते हैं पर वस्तुतः स्वास्थ्य की हानि ही सबसे बड़ी हानि है। कमाई में लोग, धन संपत्ति या प्रतिष्ठा को सब कुछ समझते हैं पर यह भूल जाते हैं कि स्वस्थ शरीर के बिना न तो किसी भी बड़ी सफलता को उपलब्ध किया जा सकता है और न उसे स्थिर रखा जा सकता है। विभूतियाँ उसी के पास ठहरती हैं जो उनकी सुरक्षा रखने में समर्थ है। दुर्बल व्यक्ति से लक्ष्मी ही नहीं विभूति भी तिरस्कृत करती हुई विदा हो जाती है। इसलिए लक्ष्य जो भी हो उसे प्राप्त करने एवं सुरक्षित रखने के लिए सर्वोपरि साधन स्वास्थ्य की चिंता, अभिवृद्धि एवं सुरक्षा करनी ही चाहिए।

स्वास्थ्य की उपयोगिता हमें समझनी चाहिए और यह भी जानना चाहिए कि इस बहुमूल्य विभूति को खो देने पर मनुष्य मणिहीन सर्प की तरह निस्तेज हो जाता है। उपेक्षा करने से हर चीज घटती और नष्ट होती है। हमारे स्वास्थ्य का विनाश भी इस बुरी आदत के कारण ही होता है कि हम स्वास्थ्य की उपयोगिता की ओर ध्यान नहीं देते और न यह सोचते हैं कि उसकी क्षति जीवन की कितनी भयानक क्षति है। यदि इस ओर हमारा समुचित ध्यान हो तो जिस प्रकार धन दौलत की चिंता में बहुत सारा समय लगाते हैं उसी प्रकार आरोग्य की रक्षा के लिए क्यों समय न लगावेंगे। क्यों कर ध्यान न देंगे। जिस ओर ध्यान दिया जाएगा उस ओर प्रगति का होना अवश्यभावी है। मनुष्य का चित्त एक जादू भरी शक्ति अपने अंदर छिपाये बैठा है उस शक्ति को जिस दिशा में भी प्रयुक्त किया

जाने लगे उसी ओर भारी सफलता के उपकरण देखते-देखते इकट्ठे होने लगते हैं।

गंभीर एवं महत्त्वपूर्ण समस्या

जिस प्रकार बिना विद्या पढ़े कोई विद्वान नहीं बन सकता, उसी प्रकार स्वास्थ्य की दिशा में जागरूक रहे बिना और उसकी सुरक्षा के लिए सचेष्ट रहे बिना कोई व्यक्ति न तो निरोग रह सकता है और न दीर्घजीवी बन सकता है। इसलिए जिन्हें जीवन से प्यार है। जो मनुष्य जीवन का कुछ लाभ लेना चाहते हैं उन्हें सबसे प्रथम एक ही काम करना चाहिए कि स्वास्थ्य के महत्त्व पर गंभीरतापूर्वक विचार करें उसके अभाव में होने वाली हानियों तथा स्वस्थ शरीर की संभावनाओं पर देर तक सोचें। यदि यह महत्त्व ठीक तरह समझ में आ जाए तो हम आरोग्य को प्राप्त करने के लिए सच्चे मन से सचेष्ट होंगे और तब दुर्बल शरीर को सबल बनाना और रोगों से छुटकारा प्राप्त करना कुछ भी कठिन न रहेगा।

संसार सागर की यात्रा के लिए हमारा शरीर एक नाव है। शरीर के ऊपर हमारा पार उतरना या डूब जाना, बहुत कुछ निर्भर करता है। जिस तरह छिद्रयुक्त जीर्ण-शीर्ण, कमजोर नाव से चंचल गतिशील संघर्ष युक्त जल धारा को पार करना कठिन है उसी तरह रोगी, निर्बल, असमर्थ शरीर से जीवन यात्रा भली प्रकार पूरी करना संभव नहीं होता। विजय, सफलता आनंद, उल्लासमय जीवन बहुत कुछ स्वस्थ एवं बलवान शरीर पर निर्भर करता है। शरीर मनुष्य के लिए एक ऐसी ईश्वरीय देन है जिसके अभाव की पूर्ति संसार में अन्य कोई भी वस्तु नहीं कर सकती।

हृदय, बुद्धि जैसे महत्त्वपूर्ण उपकरण भी अपना अस्तित्व सतेज स्वस्थ शरीर में ही कायम रख सकते हैं। शरीर के अस्वस्थ होते हुए ही बुद्धि मंद हो जाती है विवेक जाता रहता है। हृदय अपना आनंद संगीत बंद कर देता है। मनुष्य के लिए शेष रह जाती है जीवन की भयानकता, कठोरता, अशांति, क्लेश, अपमान। वह जीवित होते हुए भी मृत तुल्य हो जाता है।

हमारा शरीर उस शीशे के ग्लोब की तरह है जिसके माध्यम से लालटेन की दीप शिखा अपनी ज्योति बाहर प्रकट करती है। गंदा कालिख धुंध से खराब शीशा रोशनी को भली प्रकार बाहर प्रकट नहीं होने देता। जीर्ण-शीर्ण कमजोर शरीर भी आत्म ज्योति की प्रकाश किरणों को संसार में व्याप्त नहीं होने देता। स्वस्थ एवं तेजस्वी शरीर ही आत्मा के तेजस्वी प्रकाश को धारण करके जीवन को आभामय-ज्योतिर्मय बना सकता है।

शास्त्रकारों ने शरीर को ही सब धर्मों का साधन कहा है। स्वस्थ शरीर के द्वारा जीवन और जगत के धर्म-कर्तव्यों का भार वहन किया जा सकता है। वस्तुतः बिना मजबूत शरीर के न हम किसी का ऋण चुका सकते हैं न अपना कर्तव्य पूर्ण कर सकते हैं। दुर्बल शरीर से किसी की सेवा नहीं हो सकती है।

शरीर आत्मा का मंदिर है। बापू ने कहा है—“शरीर आत्मा के रहने की जगह होने से तीर्थ जैसा पवित्र है।” आवश्यकता इस बात की है कि हम इसे तीर्थ की तरह ही स्वच्छ सुंदर विकार शून्य बनाने का प्रयत्न करें।

शरीर के माध्यम से ही जीवन और जगत का सौंदर्य-आनंद लाभ लिया जा सकता है। शरीर में जब भरपूर उछल-कूद, मन में अपार उत्साह होता है तो यह संसार क्रीड़ा भूमि-सा दिखता है। स्वर्ग लगने लगता है और जब शरीर असमर्थ, अयोग्य, बलहीन हो जाता है तो यह संसार नरक तुल्य जान पड़ता है। जीवन भार स्वरूप लगने लगता है पाश्चात्य विद्वान बीचर ने कहा है—“शरीर वीणा है और आनंद संगीत। यह जरूरी है कि यंत्र दुरुस्त रहे।” आनंद का संगीत स्वस्थ शरीर में ही स्पंदित होने लगता है।

शरीर का रोगी जीर्ण-शीर्ण कमजोर होना अपने आप में एक बहुत बड़ा पाप है। जार्ज बर्नार्डशा ने कहा है। ‘यदि कोई बीमार पड़ेगा तो मैं उसे जेल भेज दूंगा।’ बीमारी सजा है प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने की। रोगी होना अपने आप में अपराधी होना है। मुख्यतः मनुष्य की अपनी भूलें, वे परिस्थितियाँ जिनमें वह रहता है और जिनके निर्माण में खास तौर से वह स्वयं ही उत्तरदायी है, मुख्य

होती हैं। रोगी होकर जहाँ मनुष्य के लिए नरक या जीवन का द्वार खोलता है वहाँ समाज की उन्नति में भी बाधा पहुँचाता है क्योंकि एक ओर तो वह व्यक्ति समाज के लिए जो कुछ करता है वह रुक जाता है दूसरे अन्य लोगों का समय, श्रम, धन रोगी के लिए लगने लगता है, परिवार के लोगों में चिंता फैलती है।

स्वस्थ बलवान शरीर फटे कपड़ों में भी सुंदर लगता है। रोगी और निस्तेज व्यक्ति सुंदर कपड़ों के सौंदर्य को भी भद्दा बना देता है। उसे कितना भी सजाओ वह आकर्षक और कुरूप ही लगेगा।

उत्तम स्वास्थ्य जीवन का सौंदर्य है, आनंद की खान है। स्वास्थ्य और बल की उपासना की प्रथम कक्षा मानव देह है। शरीर को स्वस्थ, बलवान, तरोताजा, स्फूर्तिवान, तेजस्वी बनाना आवश्यक है। यही वह आधार है जिससे जीवन में अन्य स्रोत खुलने की संभावना हो सकती है। स्मरण रहे स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन निवास करता है। बलवान शरीर ही आत्मा का तेज गुण धारण करने में समर्थ होता है। कांतिवान, हँसमुख चेहरा, तेज ओज ही दूसरों के लिए आकर्षण का प्रकृत केन्द्र होता है। मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य पर ही शक्ति सामर्थ्य के अन्य स्रोत निर्भर करते हैं। इसलिए शरीर को सर्वप्रथम बलवान, स्वस्थ, तेजस्वी बनाने पर ध्यान देना चाहिए।

वैयक्तिक जीवन में शरीर के बाद नम्बर आता है हृदय और बुद्धि का। कवींद्र रवींद्र ने कहा है—‘हे भगवान ! यह शरीर तेरा मंदिर है अतः इसे मैं हमेशा पवित्र रखूँगा, आपने मुझे यह हृदय दिया है, मैं इसे प्रेम से भर दूँगा, आपने मुझे यह बुद्धि दी है मैं इस दीपक को हमेशा निर्मल और तेजस्वी बनाये रखूँगा।’ शरीर के साथ-साथ हृदय व बुद्धि का भी अपने-अपने क्षेत्र में स्वस्थ, सतेज होना आवश्यक है।

अक्सर देखा जाता है कि कई व्यक्ति शरीर से स्वस्थ होते हैं लेकिन उनका हृदय और बुद्धि अविकसित ही रह जाते हैं, बहुत से पहलवान कहाने वाले लोग बुद्धि के ठस और हृदय से प्रेम, आनंद, निर्मलताशून्य होते हैं। आज तो यह एक धारणा-सी बन गई है कि जो शरीर से तगड़ा होगा बुद्धि से कमजोर रहेगा। जो बुद्धिमान होगा

उसका शरीर दुर्बल होगा लेकिन वस्तुतः यह विश्वास गलत है। शरीर, मन, हृदय तीनों में से एक के भी निर्बल होने पर मनुष्य बलवान नहीं कहा जा सकता।

हनुमान जी की सच्ची उपासना

हमारे यहाँ हनुमान जी को सर्वांगीण बल का प्रतीक माना गया है। स्थान-स्थान पर हनुमान की मूर्ति कहीं न कहीं बगीचे, शहर से बाहर खुले मैदान में मिलती हैं। यह हमारे यहाँ किसी समय बलोपासना के व्यापक प्रसार का स्मृति चिन्ह है। श्री हनुमान के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए कहा है—

मनोजवं मारुत तुल्यवेगं जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।

वातात्मजं वानरयूथं मुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये॥

इस छोटे से श्लोक में सर्वतोमुखी शक्ति के प्रतीक हनुमान का चित्रण मिलता है। वे केवल शरीर से ही बलवान नहीं थे, मन की भाँति स्फूर्तिवान् भी थे। 'मारुत तुल्य वेग' हवा के सदृश्य वे वेगवान् थे। शक्ति उपासना का आदर्श शरीर को वज्र के समान बनाने की प्रेरणा देता है तो उसे वायु के सदृश्य वेगवान् भी, हनुमान का शरीर ऐसा ही था। वे चट्टानों को चूर-चूर कर देते थे तो दस कोस भी चले जाते थे, वे वायु जैसे गतिवान् थे।

शक्ति के प्रतीक हनुमान शरीर के साथ-साथ मन में भी अपार बलशाली थे, उन्होंने वासना को जीत लिया था, वे जितेंद्रिय थे—बुद्धिमान थे। उनका शक्ति, व्रत, तप प्रधान जीवन सभी प्रकार श्रेष्ठ था। शरीर और मन पर उनका पूरा-पूरा अधिकार था, वे बुद्धिमानों में भी श्रेष्ठतम थे। हृदय से वे सभी प्रकार निर्मल, पवित्र और सरल थे तो परमभक्त भी थे, हनुमान राम के अनन्य भक्त थे।

शरीर, मन, बुद्धि, हृदय के साथ-साथ मनुष्य का एक बल और होता है—संगठन बल। संगठन के साथ ही व्यक्ति जीवित रह सकता है, शक्तिवान् मनुष्य भी समाज के सहयोग के अभाव में प्रभावशील नहीं रह सकता। असंगठित समाज—जातियाँ बहुत जल्दी नष्ट हो जाती हैं। व्यक्ति अपने आप में तो बलवान्, सामर्थ्यवान् हो सकता है, लेकिन समाज के लिए वह किसी काम का नहीं तो व्यर्थ है।

आवश्यकता इस बात की है कि अन्य शक्तियों के साथ-साथ संगठन कुशलता भी होनी चाहिए। समूह में रहकर काम करना और समाज को सुसंगठित बनाने की सामर्थ्य भी होना आवश्यक है। हनुमान जी वानर सेना में प्रधान थे, उनके नेतृत्व में सेना ने बड़े-बड़े काम किए।

शरीर, मन, बुद्धि—हृदय के विकास के लिए साथ-साथ हमें संगठन को शक्तिशाली-सामर्थ्यवान् बनाने के लिए भी प्रयत्न करना आवश्यक है, क्योंकि संगठन में ही शक्ति है। असंगठित रहने वाले बड़े-बड़े योद्धा भी नष्ट हो जाते हैं।

शारीरिक, मानसिक एवं संगठन संबंधी शक्तियों का क्या उद्देश्य है, ऐसा क्यों आवश्यक है ? शक्ति के प्रतीक हनुमानजी के जीवन से सहज ही इन प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। शक्ति-साधनों का उपयोग किसलिए। राम सेवा के लिए रामदूत बनने में ही हनुमानजी अपना गौरव समझते हैं। भगवान का अवतार, अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना करने को होता है। सच्चे भगवद् भक्त को भी अपनी गतिविधियों का निर्धारण इसी आधार पर करना होता है। राम सेवा का तात्पर्य है—आसुरी शक्तियों का उन्मूलन। रावण की तरह समाज को पददलित करने वाले तत्त्वों के खिलाफ संघर्ष करके समाज को सभी भाँति सुरक्षित, स्वतंत्र, सुखी बनाने की रामसेवा में लग जाना शक्ति का सर्वोत्तम उपयोग है। हनुमानजी अपने तन, मन, संगठन सभी शक्तियों के साथ रामसेवा के पुनीत उद्देश्य में लग गए थे।

शक्तियों का उपयोग दूसरों का शोषण, दलन, अपहरण करने में करना समाज के लिए आतंक, अत्याचार, असुरता की भावना पैदा करना, रावण का मार्ग अपनाना है। शक्ति तो हनुमान की तरह राम के पीछे चलकर ही पुण्यवान हो पाती है। ऋषि कहता है—

“आर्तत्राणाय यः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।”

‘तेरे शस्त्र पीड़ितों की रक्षा करने के लिए हैं, निरपराधों को सताने के लिए नहीं।’ किसी सच्चे बलवान का बल समाज की निर्बलता की कमी की पूर्ति करने के लिए होना चाहिए न कि समाज को और भी निर्बल सिद्ध करने के लिए। जो निर्बल हैं, कमजोर हैं, असमर्थ हैं उन्हें अपनी शक्ति का सहारा देकर बलवान बनाना, जीवन

के सहज स्वाभाविक अधिकार प्रदान करना यही बलवान का धर्म है। बलवान माँ अपने नन्हें शिशु को अपनी शक्तियों से पाल-पोसकर एक दिन सामर्थ्यवान् बना देती है। स्मरण रहे कि शक्तियों का महत्त्व बनाने में है, निर्माण में है, नष्ट करने में नहीं। कमजोर बनाने के लिए शक्तियाँ नहीं, इससे शक्तिवान का पतन होता है, उसकी शक्तियाँ भी धीरे-धीरे नष्ट हो जाती हैं। शक्ति का रचनात्मक उपयोग शक्तियों को बढ़ाता है और शक्तिशाली को तेज-सामर्थ्य प्रदान करता है।

शरीर, मन, हृदय एवं बुद्धि की शक्तियों का विकास कीजिए। शरीर से मन-बुद्धि की शक्ति अधिक है, मन से हृदय की प्रेम शक्ति, निर्मलता, पवित्रता-सदाचार की शक्ति महान है, सभी भाँति शक्तिशाली बनिए। स्मरण रखिये कि शक्ति ही जीवन है, आरोग्य ही प्रगति का आधार है।

हम स्वास्थ्य और शक्ति की उपेक्षा न करें

घर में धन-दौलत की कमी न हो, स्त्री-बच्चे-नाते-रिश्तेदार सब कोई हों किंतु आरोग्य न हो तो इन सब सुखदायक वस्तुओं से क्या कोई सच्चा हर्ष या उल्लास मिल सकता है। घर में उत्सव का अवसर हो, लड़के-लड़की का विवाह हो, सब ओर चहल-पहल दिखाई दे रही हो किंतु आप स्वयं अस्वस्थ पड़े हों तो क्या उस उत्सव का कोई आनंद पा सकते हैं। उस अवस्था में एक नैतिकता अन्य बौद्धिक संतोष के सिवाय वह आनंद-पुलक जिसे मन और शरीर तक में अनुभव किया जाता है, नहीं मिल सकता। सारा उत्सव नीरस और फीका-फीका ही अनुभव होगा।

भोजन-वस्त्र, सुविधा-साधन सभी कुछ हों किंतु आरोग्य के अभाव में उसका कोई आदर नहीं रहता। पथ्य के अतिरिक्त किसी अन्य भोजन का तो अधिकार ही नहीं रहता। आराम के साधनों का उपयोग किया जा सकता है किंतु बीमार के लिए उनका क्या सुख हो सकता है। स्वास्थ्य सही हो, शरीर में पूर्ण आरोग्य हो तो साधारण भोजन-वस्त्र और सामान्य सुविधा-साधनों के साथ भी सुख और उल्लासपूर्ण जीवन बिताया जा सकता है। स्वास्थ्य स्वयं एक सुख है, उसे बाह्य साधनों पर जीवित रहने की अपेक्षा नहीं होती।

युग के धनकुवेर कहे जाने वाले राकफेलर जैसे न जाने कितने व्यक्ति सर्व संपन्न होने पर भी दो रोटि खा सकने और जीवन में खुलकर हँसने के लिए तरसते रहते हैं। स्वास्थ्य संपदा से रहित वे करोड़ों-अरबों के स्वामी होते हुए भी दीन-हीन और मलीन बने रहते हैं, उन्हें स्वयं की तुलना में अपने मिल के मजदूर भाग्यशाली लगते हैं, जो दिन भर पसीना बहाते, डटकर काम करते और शाम को जो कुछ मिल जाता है डटकर खाते और चैन की नींद सोते हैं। स्वास्थ्य संपदा के धनी होने से वे फटे वस्त्रों और टूटे मकानों में वह आनन्द पा लेते हैं जो स्वास्थ्यहीन पूँजीपति अपनी सजी-धजी कोठियों में नहीं पाते। स्वास्थ्य संसार में सुख का बहुत बड़ा आधार है, इसी में वे सारी सुखानुभूतियाँ निहित होती हैं जो साधनों का संपर्क पाकर अधिक उद्दीप्त हो उठती हैं। स्वास्थ्य के अभाव में सुख साधनों का मूल्य नहीं। इस संपदा की रक्षा हर उपाय से करनी ही चाहिए।

संसार शक्ति के आधार पर चलता है, यदि शक्ति का सर्वथा हास हो जाये तो संसार का चलता हुआ चक्र वैसे ही रुक जाए जैसे बिजली फेल हो जाने से चलती हुई मशीन रुक जाती है। शरीर में जब तक शक्ति है इसका मूल्य-महत्त्व अपरिमित है, पर शक्ति समाप्त हो जाने पर बोझ बन जाता है। किसी काम का नहीं रहता, फिर इससे न स्वयं प्रेम रहता है और न दूसरों को सहानुभूति। निरुपयोगी होकर अवहेलना की वस्तु बन जाता है। उपयोगिता समाप्त हो जाने पर संसार में हर वस्तु मूल्यहीन एवं तिरस्कार के योग्य हो जाती है। अनुपयोगी का महत्त्व इस कर्मभूमि संसार में हो भी कैसे सकता है ? शक्ति शून्य किसी वस्तु की चाहे वह शरीर हो अथवा अन्य वस्तु की कोई कदर नहीं रहती।

शक्तिहीनता और भय का सगा संबंध है, जहाँ अशक्तता होगी वहाँ भय का रहना स्वाभाविक है। शक्तिहीन शरीर को, रोगी को शसक्त मनुष्यों, दुष्टों और शत्रुओं का भय रहता है। निर्बल धनवान् को चोर-लुटेरों का भय सताता रहता है, शक्तिहीन न जीवन संघर्ष में ठहर सकता है और न प्रतिकूलताओं से टक्कर ले सकता है।

अपमान, तिरस्कार, उपेक्षा और अवहेलना शक्तिहीनता के अनिवार्य दंड हैं। वह विरोधियों का अवरोध तो कर ही नहीं सकता, साथ ही भय और विरोध के कारण किसी सत्य बात को भी सामने प्रकट नहीं कर सकता।

साहस हीनता और कायरता के कारण शक्तिहीन को दबू जीवन बिताने के लिए विवश होना पड़ता है, ऐसी दशा में सुख-शांति की आशा कैसे की जा सकती है। शक्तिहीन को लोग जरा-जरा-सी बात पर ही दबाने, सताने का प्रयत्न किया करते हैं, शक्तिहीन का स्वत्व संपत्ति और अधिकार छिनते देन नहीं लगती। कमजोर का कोई सार्थी बनने को तैयार नहीं होता, यहाँ तक कि निर्बलता से अभिशप्त को परमात्मा तक भुला देता है। शक्तिहीनता संसार में बहुत बड़ा दुःखदायक पाप है, फिर चाहे वह शारीरिक, मानसिक अथवा बौद्धिक किसी प्रकार की भी क्यों न हो।

इस प्रकार देख सकते हैं कि स्वास्थ्य और शक्ति ही सुख-शांति के आधार एवं स्तंभ हैं। इनका अभाव न जाने कितनी तरह की कटुताएँ और कुंठाएँ जीवन में पैदा कर देता है। जीवन का समुचित विकास, शरीर हृष्टपुष्ट हो, हृदय उदार हो, मन प्रसन्न और बुद्धि निर्विकार हो तभी संभव हो सकता है। अस्त-व्यस्त शारीरिक अवस्था का जीवन गति से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता।



स्वास्थ्य-सुधार के लिए धैर्य की आवश्यकता

किसी वस्तु को नष्ट करना आसान है, पर बनाना कठिन है। किसी बड़े कारखाने को आग लगाकर कुछ घंटों में बर्बाद किया जा सकता है, पर नये सिरे से उसे खड़ा करना मुश्किल है। किसी बड़ी इमारत को तोड़ना हो तो कुछ मामूली श्रेणी के अनजान मजदूर भी कुछ दिन में उसे तोड़ सकते हैं, पर यदि नये सिरे से मकान बनाना हो तो कुशल कारीगरों की, बहुत सामान की जरूरत पड़ेगी और बहुत दिन उसे निर्माण में लगेंगे। इसी प्रकार स्वास्थ्य को नष्ट कर डालना सुगम है, पर उसे बनाने के लिए, सुरक्षित रखने के लिए बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता पड़ती है।

उपेक्षा और लापरवाही स्वास्थ्य की बर्बादी का प्रधान कारण है। उस कारण को ठीक किये बिना कोई व्यक्ति न तो अपने बिगड़े हुए स्वास्थ्य को सुधार सकता है और न स्वस्थ शरीर को देर तक सुरक्षित रख सकता है। उपेक्षा के गर्त में पड़ी हुई हर वस्तु नष्ट होती है, जिस चीज की साज-सँभाल न की जायेगी वही कुछ दिन में बिगड़ने लगेगी और सँभाल कर रखने पर वह जितने दिन जीवित रहती उसकी अपेक्षा लापरवाही का तिरस्कार सहकर कहीं जल्दी टूट-फूट जाएगी। लोग अपने धन-दौलत की चौकसी रखते हैं, खेती-बाड़ी की, कोठी-गोदाम की रखवाली का समुचित ध्यान रखते हैं, पर आरोग्य जैसी अमूल्य संपत्ति की ओर सर्वथा उपेक्षा धारण किए रहते हैं। ऐसी दशा में यदि दिन-दिन क्षीण होता चले तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

शरीर एक मोटर के समान है, जिसमें अनेकों सूक्ष्म यन्त्र लगे हुए हैं, ड्राइवर यदि उन यंत्रों के संबंध में सावधानी बरतते और उन्हें ठीक तरह काम में लेते तो वही मोटर देर तक चलती है। अनाड़ी ड्राइवर जिसे तेज दौड़ाने का तो शौक है, पर इस बात का ध्यान नहीं कि क्या-क्या सावधानी बरतना आवश्यक है, वह मोटर को थोड़े ही दिनों में बर्बाद कर देगा। इंजन के कीमती पुर्जे अपने

चलाने वालों से इस बात की अपेक्षा करते हैं कि उनकी क्षमता से अधिक भार न पड़ने दिया जाय। अत्याचार से हर चीज नष्ट होती है फिर वे बेचारे पुर्जे भी अपवाद क्यों होंगे ? अनाड़ी ड्राइवर जिस प्रकार असावधानी के कारण कीमती मोटर को भी कुछ दिन में कूड़ा बना देता है, उसी प्रकार शरीर के प्रति लापरवाही बरतने वाले, अत्याचार करने वाले लोग भी कमजोरी और बीमारी के शिकार होकर अकाल मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। चतुर ड्राइवर जिस प्रकार पुरानी मोटर से भी बहुत दिन काम ले लेते हैं, उसी प्रकार शरीर के प्रति सावधानी बरतने वाले दुर्बल मनुष्य भी अपनी सामान्य शारीरिक स्थिति से भी बहुत दिन तक काम चलाते रहते हैं।

महात्मा गाँधी का वजन ६६ पौंड था। शरीर की दृष्टि से दुर्बल और स्वल्प सामर्थ्य वाले थे, यदि कोई असंयमी व्यक्ति उनकी जैसी शारीरिक स्थिति में होता तो वह अघेड़ होने तक रोगों में ग्रस्त होकर मर-खप गया होता, पर गाँधीजी ने जीवन का महत्त्व समझा। शरीर को भगवान की सौंपी हुई एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अमानत मानकर उसके द्वारा समुचित सत्कर्म करने का निश्चय किया तो उन्हें यही उचित प्रतीत हुआ कि सबसे प्रथम शरीर की सुरक्षा पर ध्यान दिया जाए, उन्होंने ३६ वर्ष की आयु में ब्रह्मचर्य का व्रत लिया, भोजन पर से स्वाद की दृष्टि बदली और औषधि रूप में उपयोगी से उपयोगी आहार ही लेना प्रारंभ कर दिया। दैनिक क्रिया-कलापों से प्राकृतिक नियमों का पालन और मन का संतुलन रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया, फलस्वरूप वे दुबले-पतले शरीर को लेकर ही दीर्घजीवन एवं निरोग शरीर का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए तेजी से बढ़ने लगे। यदि दुर्घटना घटित न हुई होती, गोली का शिकार उन्हें न बनना पड़ा होता तो वे शारीरिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण आदर्श लोगों के सामने रखने जा रहे थे, उनकी इच्छा एक सौ बीस वर्ष जीने की थी। अस्सी वर्ष की आयु में उनका शारीरिक संस्थान एवं जीवन क्रम ऐसा संतुलित चल रहा था कि बीमार पड़ने का कोई प्रश्न ही न था, वे एक सौ बीस वर्ष अवश्य जी सकते थे, पर दैव-दुर्विपाक को क्या कहा जाय ?

सृष्टि के समस्त जंतुओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि ये प्राणी भले ही अल्प बुद्धि हों, पर प्रकृति की मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करते। फलस्वरूप वे जन्म के दिन से लेकर मृत्यु के दिन पर्यंत निरोग जीवन ही जीते हैं। जंगली जानवरों से वन प्रदेश भरा रहता है, क्या शाकाहारी, क्या मांसाहारी सभी पशु आनंद की किलकारियाँ भरते हुए निरोग जीवन व्यतीत करते हैं। पक्षियों को लीजिए—तितली—मक्खी से लेकर बड़े-बड़े पक्षियों तक कोई भी बीमार पड़ते नहीं देखे जाते। बुढ़ापे से संतृप्त—दुर्बलता से ग्रसित, बीमारियों के पाश में जकड़ा हुआ कभी कोई जीव-जंतु नहीं देखा जाता। समय आने पर मरते तो सभी हैं, पर मनुष्य की तरह सड़ते और कराहते रहने का कष्ट किसी को नहीं भुगतना पड़ता। मनुष्य ने प्राकृतिक मर्यादाओं को उल्लंघन करते रहने की जो ठान ठानी है, उसी के फलस्वरूप उसे नाना प्रकार के रोगों से ग्रसित होना पड़ता है। अपनी बुरी आदतों उसे अपने बन्धन में बाँधे हुए हैं, जिन पशु-पक्षियों को वे सिखा दी हैं उनकी प्रकृति के विपरीत अनुपयुक्त आहार-विहार करने को विवश किया है वे भी बीमार पड़ने लगते हैं। सभ्यताभिमानी मनुष्य ने अपना ही स्वास्थ्य नहीं गँवाया है वरन् अपने आश्रम में आये हुए अन्य जीवों की भी ऐसी दुर्दशा की है।

प्रकृति के अनुकूल जब तक मनुष्य चलता रहा तब तक वह स्वस्थ और निरोग जीवन व्यतीत करता रहा। हमारे पूर्वज कई-कई सौ वर्षों तक जीवित रहते और इतने बलवान् होते थे कि उनके शारीरिक पराक्रमों की गाथायें सुनकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता। यह स्थिति दिन-दिन दुर्बल होती चली गई, इसका एकमात्र कारण यही रहा है कि सभ्यता की घुड़दौड़ में पड़कर कृत्रिमता को अपनाया गया और वह कृत्रिमता आहार-बिहार में भी गहराई तक प्रवेश करती गई। शरीर के यंत्र इसी ढंग से बने हुए हैं कि वे प्राकृतिक आहार-विहार के आधार पर ठीक प्रकार काम करते रह सकते हैं। उन पर बलात्कार किया जायेगा तो फिर उन अंगों का असमर्थ और रुग्ण हो जाना स्वाभाविक है। सभी जीव-जंतु स्वाभाविक स्थिति में उपलब्ध होने वाला आहार उसके मूल रूप में

ग्रहण करते हैं। घास खाने वाले जानवर, घास को और मांस को खाने-वाले जानवर मांस को पकाते, उबालते, तलते, भूनते नहीं हैं। चिड़ियाँ दाने बीनती हैं या कीड़े-मकोड़े खाती हैं तो उन्हें वह उनके मूल रूप में ही उदरस्थ करती हैं। मनुष्य का आहार अन्न कन्दमूल फल, शाक दूध, शहद आदि हैं। पर उसका लाभ तभी है जब उसे प्राकृतिक रूप से लिया जाए। भूनने, पकाने, जलाने की क्रियाओं में खाद्य के जीवन तत्त्व अग्नि द्वारा नष्ट हो जाते हैं और फिर कोयला जैसी निस्सार स्थिति में पहुँचा हुआ आहार खाना पड़ता है। पूड़ी, पकोड़ी, मिठाई, अचार, चटनी और नाना प्रकार के व्यंजन तो आज हमारी थाली की शोभा बढ़ाते हैं और जायका ले-लेकर खाए जाते हैं उनके जीवन तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। बहुत पैसा खर्च करके जीवन तत्त्व से रहित निर्जीव जैसा आहार खाकर भला कैसे आशा करें कि उसमें से हमें स्वास्थ्य तत्त्वों की उपलब्धि होगी।

ब्रह्मचर्य के संबंध में समस्त विश्व के जीव-जंतुओं की एक सुदृढ़ परंपरा है कि क्रीड़ा या विनोद के लिए कोई भी प्राणी कभी काम सेवन नहीं करता। मादा को जब संतानोत्पत्ति की प्रकृति प्रदत्त प्रेरणा होती है तभी वह नर के सामने अपनी वासना प्रकट करती है, तभी नर उसे संतुष्ट करने के लिए उत्तेजित होता है। नर की ओर से अनिच्छुक मादा के सामने कभी काम प्रस्ताव नहीं होता है। इसी प्राकृतिक मर्यादा के बंधनों में बँधे प्राणी अपने ओजस और पराक्रम की रक्षा कर पाते हैं। मनुष्य ने इस दिशा में जितनी अति बरती है, मर्यादाओं का जितना उल्लंघन किया है उसे देखते हुए अस्वस्थता का जितना दंड मिल रहा है उसे कम ही कहा जा सकता है। रात को देर तक सोना, बिजली की रोशनी से आँखों पर दबाव, कपड़ों से शरीर को लादे रहकर स्वच्छ हवा से रोमकूपों को वंचित रखना, शारीरिक परिश्रम की अधिकता या कमी, औषधियों की भरमार आदि कितने ही ऐसे कारण हैं जो स्पष्टतः प्रकृति विरोधी आचरण कहे जा सकते हैं और जिनका स्वास्थ्य के ऊपर निश्चित रूप से अहितकर प्रभाव पड़ता है।

इन बुराइयों को यदि मनुष्य आँखें मूँदकर अपनाये रहे, प्रकृति की मर्यादाओं का पालन करने में सावधानी न बरते तो फिर उसकी शारीरिक स्थिति का ईश्वर ही रक्षक है। जिन्हें अपने जीवन से प्यार रहा है उनसे सबसे पहला कार्य एक ही किया है कि अपनी प्रकृति विरोधी बुरी आदतों को छोड़ने और अपने आहार-विहार को सुधारने में दृढ़ता एवं कठोरता के साथ आत्म नियंत्रण के लिए कदम उठाया है। जो आदतों के गुलाम हैं, इन्द्रिय लोलुपता पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते, चटोरेपन को रोकने की जिनकी शक्ति नहीं होती, ब्रह्मचर्य का महत्त्व जो नहीं समझते वे कभी निरोग न रह सकेंगे निरन्तर अपराध करने वाला अपराधी सजग शासन में देर तक स्वेच्छाचार नहीं कर सकता। उसे दंड का भागी बनना ही पड़ता है। इसी प्रकार प्रकृति के शासन में स्वेच्छाचारी बनने वाले निरंकुश लोग दंड के भागी बनें और रोगों की नारकीय यातनायें सहें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात होगी ?

जिन्होंने अपने स्वेच्छाचार के फलस्वरूप रोगों का दंड पाया है उनके लिए यही उचित है कि सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त करते हुए अपनी आदतों और गतिविधियों को सुधारते हुए प्राकृतिक जीवनयापन की सौम्य पद्धति को अपनावें। पर देखा जाता है कि लोग इसके लिए तैयार नहीं। वे चाहते हैं कि हमारा स्वेच्छाचार ज्यों का त्यों कायम रहे। रोग निवारण के लिए कोई जादू जैसी दवा मिले जो पेट में आते-जाते रोगों को छू-मंतर कर दे। इसी आशा से वे एक के बाद एक डॉक्टर के पास दवाएँ और सुइयाँ लेने के लिए मँडराते रहते हैं। प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं होता। दवाएँ कुछ देर के लिए रोग को छिपा देती हैं, उनका असर जैसे ही दूर हुआ कि रोग उसी रूप में उभर आता है। एक मर्ज अच्छा नहीं हो पाता कि दूसरे नये रोग की शुरुआत हो गई। इसी कुचक्र में भूलते हुए लोगों की सारी उम्र बीत जाती है।

किसी कष्ट विशेष को दूर करने के लिए तात्कालिक उपचार के रूप में दवा कारगर हो सकती है पर उनके आधार पर खोये हुए स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त कर सकना सर्वथा असंभव है। इसके लिए

धैर्य और साहस से काम लेना पड़ेगा। जिस मकान को गिराने में आठ दिन लगे उसे यदि फिर बनाना या ठीक करना हो, उसमें निश्चय ही उससे दूने-चौगुने दिन लगेंगे। स्वास्थ्य को खराब करने से हमने वर्षों तक शरीर पर निरंतर अत्याचार किया है तो उसके सुधार में भी कुछ तो देर लगेगी ही। फिर भी जिस प्रकार टूटी मोटर की मरम्मत हो जाने के बाद भी उसकी साज-सँभाल रखनी पड़ती है—उसी प्रकार खोए स्वास्थ्य को प्राप्त कर लेने के बाद भी अपेक्षाकृत अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होगी।

उतावली न की जाय

जो रोगी या दुर्बल शरीर वाले व्यक्ति स्वास्थ्य सुधारने के लिए अत्यधिक उतावले होते हैं चंद दिनों या कुछ घंटों में जादू मंत्र की तरह पूर्व निरोगिता चाहते हैं वे उतावले बच्चों की तरह हैं जो हथेली पर सरसों जमाना चाहते हैं और अंत में निराश एवं खिन्नता अनुभव करते हैं। हममें से हर एक को यह जान लेना चाहिए कि स्वस्थ संसार एक साधना है। बिगड़े हुए शरीर को रोग रहित और सतेज बनाने के लिए तप करने की आवश्यकता होती है। आत्म नियंत्रण करके अपनी बुरी आदतों पर विजय प्राप्त करने एवं प्रकृति का अनुसरण करते हुए अपने आप को मानवोचित विधि व्यवस्था में ढालने के लिए जो लोग दृढ़तापूर्वक कदम उठाने का साहस कर सकें उन्हें ही स्वस्थ शरीर का दिव्य वरदान प्राप्त करने की आशा करनी चाहिए। जिन्हें इतना धैर्य न हो, उन्हें मृग तृष्णा में भटकते हुए हिरन की तरह अपनी शक्तियों को बर्बाद करते रहने और पग-पग पर पछताते हुए जादू भरे इलाज की खोज में लगा रहना चाहिए परंतु यदि स्वास्थ्य का स्थायी आधार उपलब्ध करना हो तो अस्वस्थता की जड़ों को ही समाप्त करना होगा।

आदतें सुधारें

स्वास्थ्य सुधार के लिए अपनी आदतों की आहार-विहार की पद्धति को बदलना ही एकमात्र स्थायी उपाय है। चूँकि यह उपाय कष्टदायक है, इसमें मन मारना पड़ता है, आरंभ से ही सुधरे स्वास्थ्य को प्राप्त करने के लिए अन्य निर्माण कार्यों की तरह

धैर्यपूर्वक समय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इसके विपरीत दवा-दारु के बल पर निरोग हो जाने की कल्पना में इस प्रकार का कोई प्रतिबंध नहीं रहता। डॉक्टर लोग आहार-विहार का कोई खास प्रतिबंध नहीं लगाते, जी चाहे सो खाते-पीते रहने और चाहे जैसे रहने-सहने की छूट देते हैं। दवा सेवन या इंजेक्शन लगाने में कुछ मिनट ही खर्च होते हैं और कभी न पूरे होने वाले, जल्दी स्वास्थ्य लाभ करा लेने वाले चिकित्सा के आश्वासनों में रोगी का मन बहलता रहता है। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से मनुष्य को लाभ इसी में दीखता है कि आहार-विहार में परिवर्तन करने की कष्ट कर प्रक्रिया को अपनाने उसमें समय लगाने और मन मारने की अपेक्षा दवा-दारु के बलबूते पर निरोग हो जाना सरल और अच्छा है यही सोचकर आज कोटि-कोटि जनता अपनी रोगमुक्ति के लिए दवाखानों की शरण में पड़ी डॉक्टरों के पैर पलोदती रहती है। जादूगर की मिठाई की तरह तत्काल कुछ लाभ भी इसमें दीखता है। तत्काल का चमत्कार लोगों की बाल बुद्धि संतुष्ट कर देने के लिए पर्याप्त माना जाता है।

एक रोगी ने अपने ऊपर जो चमत्कार किसी दवा या डॉक्टर का देखा था वह उसकी चर्चा किसी दूसरे रोगी से करता है। वह रोगी अपना कोई ऐसा ही अनुभव अन्य रोगी को बताता है। इस प्रकार दवाओं की प्रशंसा भी चलती रहती है। चिकित्सकों का गुणगान भी होता रहता है और साथ ही रोगी का कष्ट भी यथावत् बना रहता है। यही भूल-भुलैया आज व्यापक रूप से एक गहरे अंधविश्वास की तरह सर्वत्र व्याप्त हो रही है। अमुक तालाब या कुंड में स्नान कर लेने से, अमुक बाबा की भभूत लगा लेने से समस्त रोग दूर हो जाते हैं ऐसी बातों को तो अब अंध विश्वास माना जाने लगा है पर दवाओं से आरोग्य प्राप्त हो जा सकता है, यह अंध विश्वास अभी भी अत्यंत भयावह रूप से मानव जाति के मस्तिष्क पर चढ़ा हुआ है। चूँकि तालाब कुंड के स्नान से, भभूत से या मिर्याँ मसानी की पूजा से आरोग्य लाभ की बात अशिक्षित ओझा सयाने ज्योतिषी बाबाजी कहते हैं इसलिए उनकी बात संदेहास्पद मानी जाने

लगी, पर जिस बात को मोटर-बंगले वाले उच्च शिक्षित कहे जाने वाले प्रमाण-पत्र प्राप्त कर सरकार में सामान्य डॉक्टर लोग कहें उस बात को कैसे झुठलाया जाए ? दवा से आरोग्य प्राप्त हो सकता है, दीर्घ जीवन मिल सकता है, यह मान्यता विशुद्ध रूप से अंध विश्वास है। इस तथ्य को आज नहीं तो कल स्वीकार किया ही जाने वाला है।

अपना वर्षों का समय और सारी कमाई गँवाकर भी जिसने भूल-भुलैया में भटकने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं पाया है वे रोगग्रस्त एवं दुर्बलकाय व्यक्ति कभी न कभी तो वास्तविकता पर विचार करने के लिए विवश होंगे ही। जब भी वे इस समस्या पर ठंडे दिल से विचार करेंगे, तब उन्हें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि अनियमितताएँ ही आरोग्य नाश का एक मात्र कारण होती हैं और स्वास्थ्य सुधार के लिए एक ही उपाय है—स्वास्थ्य के सनातन नियमों का पालन। आज असंयम का युग है। सर्वत्र उच्छृंखलता का बोलबाला हो रहा है। ऐसी स्थिति में संयम की बात को उपहास एवं उपेक्षा में ही डाल हथेली पर सरसों उग आवे, डिब्बी में से मिठाई पैदा होने लगे। बाजीगर इन बातों को इसी प्रकार करके दिखा भी देता है पर सफलता देखने भर की होती है। बाजीगर आँखों में धूल झोंककर, लावा देकर दर्शकों को थोड़ी देर के लिए बहका देता है, वे कुछ समय तक खुश भी हो जाते हैं पर अंततः उसका परिणाम समय की बर्बादी और निराशा के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। बिना श्रम के रुपया, मिठाई, पौधे, जानवर आदि उपलब्ध करने की आकांक्षा असफल ही रह जाती है। यदि इतनी जल्दी यह सब काम हो सके होते तो बेचारा बाजीगर क्यों दर-दर मारा फिरता, वह तो स्वयं की कब का लखपति-करोड़पति बन गया होता। पर करे क्या, सारी बुद्धि लडाकर भी बेचारा प्रकृति के कठोर नियमों का उल्लंघन करने में सफल कहाँ हो पाता है बाजीगरी केवल बच्चों का मन बहलाने का खेल बनकर रह जाती है। रुपया, मिठाई, पौधे, जानवर आदि दुनियाँ में जो लोग प्राप्त करते हैं वे बाजीगरी से नहीं उचित श्रम के आधार पर प्राप्त करते हैं। बुद्धिमान लोग इसको अच्छी

प्रकार जानते हैं इसलिए वे उचित मूल्य देकर अभीष्ट वस्तु प्राप्त करने की योजना बनाते हैं और अपना अभीष्ट मनोरथ पूरा करते हैं। धैर्यपूर्वक सतत् प्रयास से ही स्वास्थ्य सुधार संभव होता है।

आरोग्य रक्षा के प्रति सतर्क रहें

शरीर शास्त्रियों ने काया की संरचना के ईश्वरीय कौशल पर विस्तृत प्रकाश डाला और बताया कि इसकी तुलना में मनुष्य कृत सारे निर्माण तुच्छ हैं। इसका प्रत्येक कल-पुर्जा इतनी कुशलता के साथ बनाया गया है कि उसे सौ वर्ष तक नहीं सैकड़ों वर्षों तक भली प्रकार काम करते रहने में किसी प्रकार की अड़चन नहीं हो सकती। वे अपना काम बिना किसी गड़बड़ी के चिरकाल तक आसानी से करते रह सकते हैं। हथौड़ा कुल्हाड़ी लेकर उसे बर्बाद करना हो तो बात दूसरी है अन्यथा इतनी मजबूत, इतनी सही स्वसंचालित मशीन संसार भर में एक भी नहीं है जैसी कि मानवीय काया। इतना ही नहीं इसमें एक और भी विशेषता है कि टूट-फूट की मरम्मत और बाहरी आक्रमणों को निरस्त करने की भी अद्भुत क्षमता इसके कण-कण में भरी पड़ी है। रक्त के श्वेता सैनिक बाहर से भीतर आने वाले अथवा भीतर ही उत्पन्न होने वाले मारक विषाणुओं को परास्त करने की क्षमता से पूरी तरह संपन्न हैं। चोट लग जाने पर रक्त का विशेष अंश ऊपर चमड़ी पर चिपककर खुरंट बन जाता है और रक्त बहने से रोकने तथा बाहर के अवांछनीय तत्वों को उसमें न घुसने देने के दोनों ही कार्य पूरे कर देता है। रक्त में प्रविष्ट विष फोड़े-फुंसियों के दर्द ताप दाह आदि के रूप से बाहर निकाल फेंकने के लिए जीवन शक्ति अनायास ही प्रबल प्रयत्न करती है। शरीर जैसे अद्भुत रसायनशाला इस धरती पर कहीं भी नहीं है। अनाज से रक्त बनाने वाली रासायनिक क्रिया की वैज्ञानिक कभी कल्पना भी नहीं कर सके हैं। आहार का शारीरिक बल और मस्तिष्कीय चिंतन में बदल जाना ऐसा चमत्कार है जिसे रसायन शास्त्री स्वयं प्रस्तुत कर सकने में अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करते हैं।

लगता है सृष्टि ने अपनी कलाकृति को यथासंभव सर्वथा पूर्णता के अनुरूप ही बनाया है। अनावश्यक और अवांछनीय तोड़-फोड़ की जाए तब तो बारूद के सहारे पहाड़ तक गिराये जा सकते हैं, पर यदि सँभाल कर रखा जा सके और अनावश्यक छेड़खानी करने से हाथ रोका जा सके तो यह शरीर बिना किसी विशेष प्रयत्न के ऐसे ही सुदृढ़ बना रह सकता है।

शरीर विज्ञानियों का यह तथ्य अक्षरशः सही प्रतीत होता है कि, जान-बूझकर तोड़-फोड़ न मचाने वाले वनवासी-अभाव ग्रस्त और अशिक्षित होते हुए भी सशक्त, रोग मुक्त और दीर्घजीवी पाए जाते हैं। तलाश करने पर इतना ही निष्कर्ष निकला है कि वे भी अन्यत्र रहने वाले पिछड़े समझे जाने वाले लोगों में से ही हैं। विशेषता एक ही है कि शरीर को अपने ढंग से काम करने देते हैं, उसके साथ शरारत नहीं करते। इतने भर से उनका स्वास्थ्य, समस्या का रूप धारण नहीं करता है और निरोगता की गाड़ी अपने पहियों पर ठीक तरह लुढ़कती हुई लंबा सफर पार कर लेती है। यही बात अन्यत्र पाये जाने वाले स्वस्थ मनुष्यों के संबंध में भी है। प्रकृति प्रदत्त सहज ज्ञान के आधार पर यदि आहार-विहार की क्रिया पद्धति बनी रहे, तो फिर कमजोरी से रोगी और बीमार न पड़ना पड़ेगा। काया को क्षत-विक्षत कर डालने वाली कुल्हाड़ी असंयम की अनियमितता ही है। इसी भारी रेती से हम अपने अच्छे भले कल-पुर्जों को काट-पीटकर दुर्दशाग्रस्त स्थिति में पटक देते हैं। अस्वस्थता के अभिशाप में दैवी प्रकोप की, विधि-विधान की बात सोचना व्यर्थ है। इस आत्म प्रवंचना को अपनाने से तो सुधार का उपाय सोचने की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और भविष्य पूर्णतया अंधकारमय बन जाता है।

बात विधि के विधान और भाग्य दोष की चल पड़ी तो लगे हाथों इस पर भी विचार क्यों न कर लिया जाए ? सृष्टि के समस्त प्राणियों पर दृष्टि डालकर उसकी शारीरिक स्थिति का पर्यवेक्षण किया जाए और देखा जाय कि उनमें से कितनों को दुर्बलता एवं रुग्णता का शिकार बनना पड़ रहा है। जलचर, नभचर और थलचर प्रकृति के स्वदेज, अंडज, उद्भिज, जरायुज वर्ग के समस्त प्राणियों

का गहरा उथला सर्वेक्षण करने पर प्रतीत होता है कि इनमें से किसी के भी सामने स्वास्थ्य समस्या नहीं है। बुढ़ापा और तो सभी के सामने आता है, पर मध्यावधि में किसी को भी बीमारियों का त्रास नहीं सहना पड़ता। -सर्दी-गर्मी, भूख, आक्रमण के शिकार होते रहते-अनेक प्रतिकूलताओं का सामना करते रहने पर भी वे आजीवन निरोग ही बने रहते हैं। मनुष्य को तो अनेक सुविधाएँ प्राप्त हैं। फलतः उसे अपेक्षाकृत अधिक स्वस्थ रहना चाहिए। पर देखा विपरीत जाता है। पिछड़ी समझी जाने वाली योनियों के प्राणी आरोग्य का आनंद लेते रहें और प्रगतिशील कहलाने वाला मनुष्य उस सहज सौभाग्य से वंचित ही बना रहे यह कैसी विडंबना है ? मनुष्य स्वयं बीमार पड़ा और अपने चंगुल में फँसे हुए पालतू पशु-पक्षियों को भी बीमार बनाया। यदि इसी का नाम बुद्धिमत्ता है तो उसे पाकर मनुष्य ने क्या लाभ कमाया ?

इन सब बातों पर विचार करने से अपने समीपवर्ती क्षेत्र में जो भी निरोग, समर्थ, प्रफुल्लित, उल्लसित, स्फूर्तिवान व्यक्ति पाए जाते हैं उनके संबंध में यही धारणा बनानी पड़ती है कि वे किन्हीं विशेष सुविधाओं के कारण इस उत्तम स्थिति में नहीं रह रहे हैं मात्र शरीर यात्रा के लिए प्रकृति की निर्धारित आचार संहिता का पालन करने भर से ही आरोग्य का वह आनंद पाया जा सकता है जिसे जीवन का प्रथम सुख कहा जाता है।

स्वस्थ, उत्साही और स्फूर्तिवान मनुष्य से अपनी तुलना की जाए—यदि उनके अंग-अवयवों से अपनों की समता की जाय तो प्रतीत होगा कि एक ही वर्ग के जीवधारी होते हुए भी हम लोगों के बीच अन्य क्षेत्रों में ही नहीं आरोग्य स्तर की विषमता भी बुरी तरह छाई हुई है। यह सभी विषमताएँ कृत्रिम हैं। ईश्वर प्रदत्त नहीं। मनुष्य ने अपने सभी पुत्रों को प्रायः समान स्तर के शरीर और मन दिए हैं। इनका सही गलत उपयोग करके ही मनुष्य पिछड़ेपन की एवं समुन्नत स्तर की परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। इसी प्रयास प्रक्रिया के परिणाम ही देर-सबेर में सामने आते रहते हैं। इसलिए भाग्य का एक नाम कर्म भी है। कर्म विधान, कर्म रेखा, कर्म लेख आदि शब्दों का

यदि भाग्य के स्थान पर प्रयोग किया जाए तो इसमें उसकी अधिक सार्थकता समझी जा सकेगी।

कुछ अपंग, अविकसित अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी मनुष्य एक जैसी स्थिति में उत्पन्न होते हैं। आरोग्य से लेकर जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में दृढ़ता एवं प्रगति की सफलताएँ तो मनुष्य की अपनी गतिविधियों पर निर्भर रहती हैं। अपना आरोग्य यदि पिछड़ा या बिगड़ा हुआ है तो उसके लिए परिस्थितियों को दोष देते रहने से काम नहीं चलेगा। अपना उत्तरदायित्व स्वीकार करना पड़ेगा, कहीं अपने से ही भूल होती है या होती रही है, अपने पैर कुल्हाड़ी मारने से ही यह जख्म हुआ है। ऐसा दूसरा कोई पास में दीखता नहीं जिसके कारण इतनी मजबूत इमारत खोखली होती। आँख बंद किए रहें तो बात दूसरी है अन्यथा पलक खोलकर देखने पर वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है और वह छिद्र स्पष्ट दीखता है, जिसमें होकर इस नाव में पानी भरा है और वह डूबने के करीब जा पहुँची है। अपनी ही बुरी आदतें हैं जिननें घुन की तरह इस मजबूत शहतीर को खोखला करके रख दिया है। यदि अपनी भूलें स्वास्थ्य की बर्बादी का कारण समझ में आ सके और उनका पश्चात्ताप हो तो प्रायश्चित् एक ही है कि जो हो चुका है उसे सुधारने के लिए उतनी ही हिम्मत के साथ कदम बढ़ाए जाएँ जितने उत्साह से निराशा के पथ पर बढ़ने में उत्साह दिखाया गया है।

देखा जाता है कि सृष्टि के समस्त प्राणी अपने लिए निर्धारित आचार संहिता का पालन करते हैं। अंतःचेतना में विद्यमान प्रकृति प्रेरणा मार्गदर्शन करती है और प्राणी उसका अनुसरण करते हैं, इतने भर से सुव्यवस्था बनी रहती है और आरोग्य पर कोई आँच नहीं आने पाती। हर प्राणी के लिए जीवन निर्वाह की आचार संहिता उसकी मूल प्रकृति में मौजूद है यदि उसे विकृत न किया जाए तो वह ऐसा मार्गदर्शन करती रहती है जिसका अनुसरण करने पर किसी निरोग को पूर्णायुष्य प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं होती आदत बिगड़ने पर तो कोई भी अनुपयुक्त आचरण करने लग सकता है। घोड़ों को शराब, बंदरों को भाँग, पक्षियों को अफीम की थोड़ी-थोड़ी मात्रा देकर

पीछे उन्हें ऐसा अभ्यस्त बना लिया जाता है कि बिगड़ी आदत के अनुसार ही उनके आचरण होते हैं। इंद्रियों की आदतें हमें बिगाड़ती हैं, पीछे वे इतनी ढीठ हो जाती हैं कि उसी गिरी आदत को पूरा करने के लिए मचलती रहती हैं, उसमें कमी पड़े तो रूठने-मटकने लगती हैं। नवजात बालक की जीभ पर जरा-सी मिर्च लग जाए तो वह बेतरह व्याकुल हो जाता है, पीछे वह अभ्यास चलता रहे तो मिर्च के बिना भोजन में रस ही नहीं आता और कई बार तो उसकी मात्रा बढ़ते रहने पर ही संतोष होता है। यही बात तंबाकू आदि नशों के संबंध में है। आरंभ में उनके तनिक से सेवन से मिचली आती है पीछे अभ्यस्त बनते-बनते उसे खाये-पीए बिना टट्टी उतरना तक कठिन हो जाता है। यह अभ्यास की करामात है, जिसके सहारे बुरे आचरण के लिए भी मनुष्य विवश होता चला जाता है।

मूल प्रकृति को समझा गया होता, प्रकृति के संकेतों का अनुसरण किया गया होता तो न स्वास्थ्य संबंधन के उपाय खोजने पड़ते और न रोग निवारण के उपाय—उपचार खोजने के लिए जहाँ-तहाँ ठोकरें खाते-फिरने की, पैसा-समय गँवाने की झक मारनी पड़ती। तब सृष्टि के अन्य प्राणियों की तरह अपना जीवन भी बिना दुर्बलता एवं रुग्णता का कष्ट सहे हुए आनंदपूर्वक व्यतीत हो रहा होता।

अपना शरीर काम चलाऊ भले ही हो, पर जिसे स्वस्थ कहा जा सके उस स्तर की उसकी स्थिति कहाँ है ? फिर आए दिन छोटी-बड़ी बीमारियों की खटखट भी तो लगी रहती है। अपच को ही लें, स्वभाव का अंग बन जाने से अखरता नहीं, किंतु है तो वह भी शरीर में जड़ता, आलस्य, उदासी, अनख आदि कितने भार लादे रहने वाला अभिशाप ही। नींद में कमी, सिर का भारीपन यह छोटे रोग ही हैं, पर पेड़ में लगने वाली दीमक की तरह उनकी विनाश लीला तो किसी प्रकार कम नहीं है। मसूड़ों में पाया जाने वाला पायरिया तो बहुत कष्टकर होता है और विद्रूप भी। मुँह की बदबू और पेट में पहुँचने वाली मबाद कितनी अधिक हानिकारक होती है—इसका पता आरंभ में नहीं बाद में चलता है।

अपने शरीर को छोटी हानि सहनी पड़ रही या बड़ी, इसकी विवेचना करना आवश्यक नहीं। इतना जान लेना ही काफी है कि छोटे से विकार भी यदि पनपते रहें तो अंततः भारी संकट उत्पन्न करते हैं। छप्पर के एक कोने में आग बढ़ते-बढ़ते उस घर को और समूचे गाँव को जला डालने वाली विभीषिका बन जाती है। यदि कोई बड़ा रोग नहीं है किंतु अपच जैसे घुन स्वास्थ्य को खोखला करने में लगे हुए हैं तो भी यह कम चिंता की बात नहीं है, उसके द्वारा पहुँचने वाली क्षति बढ़ते-बढ़ते आय का बड़ा भाग समाप्त कर सकती है और आगे चलकर किसी भयंकर रोग का कारण बन सकती है। ऐसा न भी हो तो उसकी वर्तमान क्षति ही कौन-सी प्रसन्नतादायक है, उससे कुछ तो असुविधा होती है। क्रियाशक्ति की घटोत्तरी-उत्साह और स्फूर्ति की कमी से भी तो अर्ध मृतक की स्थिति बन जाती है और जो कुछ किया या पाया जा सकता है, उसका आधा अंश ऐसे ही बर्बाद हो जाता है। हमें अपने स्वास्थ्य में यदि थोड़ी-सी भी गड़बड़ी दीखती है तो उसे सँभालने-सुधारने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। रोग और शत्रु को छोटा मानकर नहीं चलना चाहिए—यह बड़ों की शिक्षा बहुत ही अनुभवपूर्ण है। हम दूसरों के लिए इतना करते हैं कि अपने संबंध में सोचना या करना नहीं बन पड़ता। यह आत्म प्रवंचना अपनी त्याग वृत्ति का रौव गाँठने के लिए गढ़ी जाती है, पर वस्तुतः उसमें अदूरदर्शिता और प्रमाद की वृत्ति ही काम करती है। दूसरों को सँभाला जा सकता है तो अपने आप को भी क्यों न सँभाला जाए बच्चे को स्वच्छ रखा जा सकता है और स्वच्छता अच्छी बात समझी जाती है तो स्वयं भी स्वच्छ क्यों न रहा जाए। शरीर दुर्बल और अस्वस्थ रहने लगे और स्वयं उसकी ओर आँखें बंद करके रहा जाए तो इसमें अदूरदर्शिता का ही परिचय मिलेगा।

आहार और विहार संबंधी मर्यादाओं का उल्लंघन ही समस्या बिगाड़ने का एकमात्र कारण है। सृष्टि के समस्त प्राणी अपनी शारीरिक मर्यादाओं का पालन करते हैं, फलस्वरूप वे अल्प बुद्धि और साधनहीन होने पर भी सदा निरोग बने रहते हैं। जलचर, थलचर, नभचर सभी जीव-जंतु आमतौर पर निरोग रहते हैं। दृष्टि दौड़ाकर देखिये चौरासी लाख योनियों में से एक मनुष्य को छोड़कर अन्य सभी

जीव आरोग्य का आनंद उठाते अपने जीवन के दिन पूरे करते दिखाई देंगे—खोजने पर भी बीमारियों में पड़ा कराहता हुआ कोई प्राणी दिखाई न देगा। एक अभाग मनुष्य ही ऐसा है जिससे अपने बहुमूल्य जीवन का एक बहुत बड़ा भाग बीमारी और कमजोरी की व्यथा सहते हुए बर्बाद करमा पड़ता है।

बुद्धिमानों का यह कथन सर्वाश में सत्य है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मूल आधार शरीर है। दुर्बल और रुग्ण शरीर वाला अपनी जीवनयात्रा का भार स्वयं वहन नहीं कर पाता, उसे पग-पग पर दूसरों की सहायता अपेक्षित होती है। दूसरे लोग सहायता न करें तो अपना ही काम न चले। लोग धर्म कार्य कर सकने के लिए श्रम कैसे कर पायेंगे ? धन कमाने के योग्य पुरुषार्थ भी कैसे बन पड़ेगा ? कामोपभोग के लिए इंद्रियों में सक्षमता कैसे स्थिर रहेगी और फिर मोक्ष के योग्य, श्रद्धा, विश्वास और धैर्य, श्रम के संकल्प का बल भी उनमें कहाँ से रहेगा ? इसलिए बीमार और कमजोर आदमी इस संसार में कुछ भी प्राप्त कर सकने की स्थिति में नहीं रहता। रोग को पाप का फल माना गया है, वस्तुतः वह प्रत्यक्ष नरक ही है, नरक में पापी लोग जाते हैं। स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन करना भी सदाचार के, धर्म के नियमों को तोड़ने के समान ही अनुचित है। जब झूठ, हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्मों द्वारा सामाजिक एवं नैतिक नियमों का उल्लंघन करने वाले ईश्वरीय और राजकीय दण्ड भोगते हैं, तो स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन करने वाले क्यों पापी न माने जाएँगे, क्यों उन्हें प्रकृति दंड न देगी ? शरीर के भीतर व्यथा और बाह्य जीवन में असफलता, यह दुहरा दंड उन लोगों के लिए सुनिश्चित है जो पेट पर अत्याचार करके उसे शक्तिहीन बना देते हैं। चटोरेपन की बुरी आदतें ही स्वास्थ्य की बर्बादी का एकमात्र कारण हैं। इसलिए उन आदतों को भले ही राजकीय दंडविधान में अपराध न माना गया हो, पर प्रकृति की दंडसंहिता में अपराध ही गिना गया है और उसके लिए वह दंड सुनिश्चित है जिसे आज सब ही भुगत रहे हैं। भीतर व्यथा और बाहर असफलता के दंड हममें से अधिकांश को आज सहने पड़ रहे हैं।

आयुर्वेद शास्त्र का मान्य सिद्धांत यह है कि संपूर्ण रोग पेट के अपच से आरंभ होते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति में भी यह मान्यता है कि संपूर्ण रोगों का एकमात्र कारण कब्ज है, अनेक रोग तो उसके बाह्य रंगरूप मात्र हैं, इन सबकी जड़ पेट में रहती है। पेट खराब रहने से सभी रोग उपजते हैं और पाचनक्रिया के ठीक रहने पर कोई आकस्मिक रोग बाहरी कारणों से लग जाए तो वह जल्दी ही अच्छा हो जाता है। एक यूनानी कहावत है 'रोग और आरोग्य दोनों की कुंजी हर मनुष्य के पेट में सुरक्षित रखी हुई है'; जिसे कब्ज रहता है उसे विभिन्न रोगों का शिकार रहना ही पड़ेगा, जिसका पेट ठीक है उसके आरोग्य को कोई शक्ति नष्ट नहीं कर सकती—इस तथ्य को हम जितनी जल्दी समझ लें उतना ही अच्छा है।

यदि पेट में पड़े हुए आहार का ठीक प्रकार पाचन न हो तो वह सड़ने लगता है। सड़न से विषैली गैस उत्पन्न होती है और विष फिर रक्त में मिलकर या श्वास-प्रश्वास क्रिया के सहारे सारे शरीर में घूमने लगता है। उस विष को ठहरने के लिए जहाँ भी आश्रय मिल जाता है वहीं अधिक होते ही रोग फूट निकलता है। रेगिस्तानों में रेत की आँधियाँ चलती रहती हैं, उड़ते हुए रेत को किसी पेड़ या चट्टान आदि के सहारे थोड़ा-सा रुकने का आश्रय मिल गया तो कुछ ही देर में वहाँ रेत का एक टीला जमा हो जाता है। यही बात हमारे शरीर में कब्ज के कारण उत्पन्न हुए विष की है। साँस के साथ वह एक आँधी की तरह घूमता है और जहाँ भी थोड़ा सहारा मिला वहीं अड़्डा जमा कर बैठ जाता है। वर्षाती नदियों में पहली वर्षा होते ही आस-पास का कूड़ा-कचरा इकट्ठा होकर बहने लगता है, यह कचरा अपने ढंग से यों ही बहता चला जाता है, पर यदि कहीं पानी में थोड़ी-सी रोक या मोड़ आ जाए तो वह कचरा वहाँ जमा होने लगता है। नाली-मोरियों में रुकावट पड़ने पर कूड़ा-कचरा जमा होने का दृश्य हर जगह देखा जा सकता है। यही बात हमारे शरीर की भी है, पेट में निरंतर विष की उत्पत्ति एकमात्र कब्ज से होती है।

कुछ बाहरी एव सामयिक कारण भी शरीर में विष की मात्रा उत्पन्न करने वाले हो सकते हैं, पर उनका प्रभाव थोड़ी ही देर में समाप्त हो जाता है। रक्त में श्वेत कणों की मात्रा यदि पर्याप्त हो तो

बाहरी विष से लड़ने और परास्त कर बाहर निकाल फेंकने की बात आसानी से पूरी हो जाती है। जिस प्रकार सरकार शत्रुओं से देश की रक्षा करने के लिए सेना व्यवस्था रखती है वैसे ही हमारे रक्त में भी श्वेत कणों की एक ऐसी फौज रहती है जो किसी बाहरी हमले का आसानी से मुकाबला कर सकती है, उसे परास्त करके देह से निकाल फेंकने में पूर्णतया सफल हो सकती है। छूत की बीमारियाँ आमतौर से उन्हें लगती हैं जिनका रक्त पहले से ही दूषित होने के कारण अपनी प्रतिरोधक शक्ति खो बैठता है। हैजा-प्लेग आदि महामारियों के दिनों में भी अनेक स्वयंसेवक रोगियों की सब प्रकार की सेवा करते हैं, पर उन्हें कुछ भी नहीं होता, पर सब तरह बचते रहने वाले लोग वायु में उड़ने वाले कीटाणुओं से ही प्रभावित होकर उन फैली हुई महामारियों से ग्रसित हो जाते हैं और बचाव की बाहरी व्यवस्था द्वारा बहुत प्रयत्न करने पर भी अपनी जान खो बैठते हैं।

कब्ज एक स्थायी रोग सरीखा बन जाता है। खान-पान संबंधी बुरी आदतों से सताया हुआ पेट अंततः अशक्त हो जाता है और अपना काम ठीक तरह कर सकने के अयोग्य हो जाता है। किसी प्रकार गाड़ी खिंचती तो है, जीवन रक्षा होती रहे इतना पहिया लुढ़कता तो है, पर अपच के कारण उत्पन्न हुई सड़न तो निरंतर जारी ही रहती है। निरंतर झरते रहने वाले पानी के झरने से सदा धार बहती ही रहती है। निरंतर आग उगलने वाले ज्वालामुखी से सदा धुआँ ही निकलता रहता है। कमजोर पेट में जब कब्ज रहने लगा तो वहाँ से भी विषों का उत्पादन निरंतर ही होता रहेगा निरंतर की लड़ाई लड़ना किस सेना के बस की बात है, मौके-मौके पर युद्ध कौशल दिखाया जा सकता है, पर अनंतकाल के लिए चौबीसों घंटे गोली चलाते रहने का भार जिस सेना पर आ पड़े और शत्रु का दल बादलों की तरह उभरता हुआ निरंतर चलता ही आवे तो सैनिक कब तक अपने पैर टिकाये रहेंगे। शरीर की रोग प्रतिरोधक शक्ति का भी इस निरंतर की कब्ज से उत्पन्न विषों के साथ लड़ते-लड़ते एक प्रकार से अंत ही हो जाता है, तब फिर शत्रुओं को खुलकर खेलने का अवसर मिलता है और देह नाना प्रकार के रोगों से ग्रसित होती जाती है।

रोगों के नाम, लक्षण, चिन्ह, निदान के झंझट में पड़ने और उनके वर्गीकरण की उखाड़-पछाड़ में उलझने से कुछ लाभ नहीं। पेट में उत्पन्न हुआ विष जिस स्थान पर जमा होगा वहीं पीड़ा देगा, गँठों में जमने से उसका नाम गठिया, सिर में जमने से सिर दर्द, फेफड़ों में जमने से क्षय, श्वास नली में जमने से खाँसी, चमड़ी में जमने से खुजली, दाँतों में जमने से पायरिया, गुर्दे में जमने से बहुमूत्र, उँगलियों में भर जाने से कोढ़ हो जाएगा। बीमारियों का नामकरण करने और उनके निदान लक्षण में माथापच्ची करने से क्या लाभ। गँठों की बीमारी, सिर दर्द की बीमारी, कान की बीमारी, दाँतों की बीमारी कहकर भी वही प्रयोजन सिद्ध हो सकता है जो बड़े-बड़े वैद्यों से रोग का निदान और नामकरण कराने से होता है।

पेट में उत्पन्न होने वाली सड़न शरीर के किसी भी भाग में पहुँच सकती है और उससे किसी भी अंग में रोग उत्पन्न हो सकता है। डकारों में मुँह की ओर वायु से गुदा मार्ग की ओर वह सड़न गैस के रूप में बाहर आती है तो उसकी दुर्गंध का कुछ अनुभव हो जाता है। यह गैसें अपने साथ सड़न भरे और भी विषाक्त तत्त्व साथ में उड़ाकर लाती हैं तो इनका जमाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जीभ और दाँतों पर जो मैल रोज जमता है वह पेट से उड़कर ऊपर आई हुई गैसों का ही विकार है। धुआँ जहाँ उठता रहता है वहाँ छतों पर कालिख जमा हो जाती है। जीभ और दाँतों का मैल इसी प्रकार की कालिख है, जिसे रोज साफ न किया जाए तो मुँह में बदबू आने लगे और स्वाद कड़ुआ रहने लगे, यह विकार जब तेज हो जाते हैं तो मसूड़ों को गलाने लगते हैं तब पायरिया पैदा हो जाता है, जीभ में छाले रहने लगते हैं, साँस के साथ बदबू आने लगती है, सोते में लार बहती है—यह सब एक ही बात के विभिन्न स्वरूप हैं।

रक्त में विकार घुल जाने से पिती, चकत्ता, फुंसी, दाद, कोढ़, खुजली, गठिया आदि कितने ही तरह के रोग फूट निकल सकते हैं। हृदय की धड़कन, लकवा, दमा, प्लुरिसी, आंत्रक्षय, ज्वर, उन्माद, स्नायु, दौर्बल्य, नासूर, नपुंसकता जैसे कुछ रोग ऐसे हैं जो स्वतंत्र प्रकृति के दिखाई पड़ते हैं, पर इनके मूल में भी उन विषों का धीरे-धीरे संचित होते रहना ही कारण होता है।

चोट लगना-जलना जैसे बाहरी कारणों से भी कभी-कभी शारीरिक कष्ट होते हैं, पर यदि रक्त की शुद्धता अक्षुण्ण हो तो उनके अच्छे होने में देर नहीं लगती। शुद्ध रक्त अपनी जीवनी शक्ति के आधार पर ऐसे आघातों का समाधान जल्दी ही कर देता है। एक छोटा-सा घाव भी लंबा समय लेकर कठिनाई से अच्छा होता है। जिनके रक्त में शर्करा की मात्रा अधिक होती है उन मधुमेह के रोगियों की छोटी-सी फुंसी भी महीनों में अच्छी होती है, कोई बड़ा आपरेशन करना पड़े तो उसका घाव भरना कठिन हो जाता है। कोढ़ी का खून ही खराब हो जाता है, उसकी उँगलियों पर छोटे-छोटे जख्म होते हैं पर वे किसी भी दवा से अच्छे नहीं होते। ऐसी ही खराबियों के कारण भीतर ही भीतर जहाँ-तहाँ पीड़ाएँ उठती रहती हैं और मनुष्य उनसे निरंतर दुःख पाता रहता है। जब दाँत उखड़ने का समय आता है तो सालों तक उनमें दर्द, सिर में दर्द, पसली में दर्द आए दिन ऐसे ही झंझट खड़े रहते हैं। स्त्रियाँ जब मासिक धर्म से होने को होती हैं तब उन्हें कई दिन तक बुरी तरह पीड़ित रहना पड़ता है। प्रसवकाल भी उनके लिए मृत्यु जैसा कष्टकारक होता है, पर ऐसा होता तभी है जब रक्त की सजीवता क्षीण हो चुकी हो। जिनकी जीवनी शक्ति सक्षम है उन्हें इस प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होती। बुढ़ापे में भी उनके दाँत-आँख सब काम करते रहते हैं। देहातों के श्रमशील नर-नारी जिनका पाचन ठीक रहता है, उन्हें इस प्रकार की कठिनाइयों में पड़ने और व्यथा सहने के लिए विवश नहीं होना पड़ता।

पाचन क्रिया की खराबी समस्त रोगों की जड़ है। यदि जड़ काट दी जाए तो पेड़ के पुष्प-पल्लव भी सूखने लगेंगे। जिसकी जड़ें हरी हैं उसे ऊपर से काट भी दिया जाए तो फिर नई शाखाएँ फूटने लगेंगी। बीमारियों की जड़ निश्चित रूप से पेट में है। जिस अंग में रोग है वहाँ भी उपचार करने में हर्ज नहीं, रोग की स्थानीय चिकित्सा भी होनी चाहिए, पर जड़ को ठीक किए बिना बाहर की लीपा-पोती से क्या काम बनने वाला है ?

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)